

सुविधि ज्ञान वन्दिका प्रकाशन संस्था का

पुस्तक क्र. २९

|| भगवत्प्रसाद विषयक संक्षिप्त ग्रन्थ ||

: मूल अंदरकर :
प.पू. आवार्य 108 श्री नरेन्द्रसेन जी महाराज

: हिन्दी अल्पादक :
प.पू. मुकामुनि 108 श्री सुविधिसागर जी महाराज

: सम्पादिका :
पू.बा.झ.आर्थिका 105 श्री सुविधिमती माता जी
तथा
पू.बा.झ. आर्थिका 105 श्री सुयोगमती माता जी

: अंदर सम्पादक :
भरतकुमार इन्द्रजान्द पाण्डीबाल

ॐ

प्रमाणप्रमेयकलिका

प्रकाशक

सुविधिपूर्वक विद्युतीय प्रकाशन कार्यालय

आवृत्ति : १

प्रति : ₹५०

मूल्य : ₹१ रु. भाष्ट

प्रकाशन काल : मई २०००

: प्रातिस्थान :

भरतकुमार इन्डस्ट्रीज प्राप्तीयाल

एन-९, ए-११५, ४३/४-

विकानेरी कोळनी, सिलगो, ओरंगाबाद,

महाराष्ट्र - ४३१ ००९.

फोन : (०२४०) ३८९०६९

-: अर्थ संहारी :-

सदा, मदनलक्ष्मी पाटीनी के मुख्य स्मृति में

इमानु येदी पाटीनी

कलाचार, सूजनगढ, वि. नांदोर (संघ.)

: सहयोग राशि :

₹०,००० रुपये

: मुद्रक :

युटिलिटी ओरंगाबाद.

अनुवादक के हो शब्द ...

दर्शन, धर्म का प्राण है। इसी की छत्रछाया में सिद्धान्त व आचार फलता फूलता है। अतः दर्शन उन्हों की सुरक्षा सम्पूर्ण संस्कृति की सुरक्षा है।

प्रमाणप्रबन्धकलिका नामक यह प्रसुत ग्रंथ विशाल दर्शनशास्त्र रूपी सामग्र के तत्त्व में खड़ी कर न्याय विषयक रूप प्राप्त करने के इच्छुक जिज्ञासु शिष्य रूपी गोलाङ्कोर के लिए आलम्बन स्वरूप है।

दर्शन शास्त्र की विशेषता है कि अब तक तत्त्व विषयक कहापोह नहीं होती, अब तक दर्शन शास्त्र तत्त्व को स्वीकार नहीं करता, अतः परीक्षादक्ष शिष्यों के लिए यह अखण्ड प्रिय विषय होता है।

दर्शन शास्त्र के मुख्य रूप से दो अंग हैं- प्रमाण और प्रमेय। तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हेतु दर्शनों अंगों का सम्बन्धज्ञान होना जरुरी है। विभिन्न द्वुकिरणी, अनेकविधि तकों के माध्यम से प्रत्येक विषय पर गहन विज्ञार विमर्श होने से दर्शन शास्त्र में अन्धशंखा को स्थान नहीं मिलता।

भारत में चारोंकालास्तिक दर्शन हैं। जैन और बौद्ध वेदविरोधी परन्तु आस्तिक दर्शन हैं। योग-भीमांसक-सांख्य-जैमिनीय-वैशेषिक तथा न्याय ये द्वेषोपासक आस्तिक दर्शन हैं। सभी दर्शनों ने प्रमाण और प्रमेय स्वीकृत किये हैं। प्रत्येक दर्शन में प्रमाण का लक्षण, संख्या आदि विषयक भेद है। प्रमेय विषयक मान्यता में भी बहुत भिन्नता पायी जाती है।

सर्वदर्शनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण-प्रमेय विवेचना में से कौन सी विवेचना सत्य है वह क्यों है? यह समालोचना प्रसुत ग्रंथ का मूल विषय है। ग्रंथ का अनुवाद करने की इच्छा में बनारस गया था। वहाँ पर जैन समाज के बयोवृद्ध विद्वान्, सर्वदर्शनावार्य श्री उदयचन्द्र जैन से न्यायविषयक चर्चा हुई। उन्होंने मैंने प्रसुत ग्रंथ का अध्ययन किया। अध्ययन के समय पदे-पदे ग्रंथ का भाषा सीखत, शैलीगत विशेषता तथा ग्रंथ का महत्व समझ में आ रहा था। मम में एक जिज्ञासा हुई कि “यदि इस ग्रंथ का अनुवाद हो जाये, तो किसने लोग सामान्यत होंगे?

इसी जिज्ञासा ने इस ग्रंथ के अनुवाद की प्रेरणा दी ।

कठिनाई :- मेरे सामने पण्डित प्रबार दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्रति थी । यद्यपि सम्पादक ने पूर्ण प्रयत्न किया कि “ग्रंथ की पाठ शुद्धि हो” परन्तु कुछ पाठ हमें अशुद्ध लग रहे थे । जैसे कि ग्रंथ के 23वें परिच्छेद में एक वाक्य है— यदत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधक इत्युक्तम्, तदपि न पटिष्ठम् । इस वाक्य में आगत “पटिष्ठम्” शब्द मुझे उचित नहीं लगा । मैंने भूलपाठ में तो “पटिष्ठम्” ही रखा है, परन्तु अर्थ “प्रतिष्ठितम्” शब्द स्वीकार कर के किया है । अर्थ की दृष्टि से मुझे अनेकों स्थल विचारणीय जान पड़े ।

भूलपाठ क्या है ? यह जात करने के लिए मैंने जैन सिद्धान्त भवन-आशा से हस्तलिखित पाण्डुलिपि प्राप्त की । उस से मुझे कोई लाभ नहीं हुआ । अतः प्रकाशित प्रति के आधार पर ही यह टीकाकार्य सम्पन्न किया है ।

निवेदन:-

ग्रंथ अत्यन्त रोचक है । एकबार हाथ में लेने के बाद पूर्ण रूप से स्वाध्याय हुए बिना पुनः रखने का भाव ही नहीं होता ।

दर्शनशास्त्र की शैली अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अत्यन्त किळट होती है । अतः संभव है कि मेरे द्वारा अनुवाद में कहीं भूल हो गयी हो । मैंने आगम ग्रंथों का सहयोग ले कर ग्रंथ का अनुवाद विशुद्ध रूप से किया है— फिर भी कहीं भूल हो तो विद्व-वर्ग उधर मेरा ध्यान आकृष्ट करेगा— ऐसी मैं आशा करता हूँ ।

ग्रंथ के सम्पादक, द्रव्यदाता व सहयोगियों को मेरा आशीर्वाद ।

मुनि सुविधिसाहगर

16-10-99



सम्पादकीय

प्रमाण-प्रमेय-कलिका ग्रंथ पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। यह मौलिक न्याय विषयक रचना जैन तार्किकाचार्य श्री नरेन्द्रसेन की है। न्यायशास्त्र में ब्रवेश करने के इच्छुक भव्य जीवों के लिए यह लघु कृति अत्यन्त सहजोगी सिद्ध होगी।

इस ग्रंथ का मूल प्रतिपाद्य प्रमाण एवं प्रमेय ये तीन तत्त्व हैं।

प्रमाण तत्त्व की परीक्षा:-

इस प्रकरण में ग्रंथकर्ता ने भट्ट प्रभाकर के ज्ञात् व्यापार, संख्य तथा योगाभिमत इन्द्रियवृत्ति, भट्ट जयन्त के कारक साकल्य तथा योग मतावलम्बियों के सन्निकर्ष को प्रमाण मानने की कल्पना की परीक्षा कर के उन को दूषित ठहराया है। तत्प्रश्नात् स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण क्यों है? इस की समीक्षा की है।

ग्रंथकर्ता ने पूर्वचार्यों के समान ही प्रमाण के दो फलों को स्वीकार किया है। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है तथा परम्परा फल हान, उपादान और उपेक्षा है। ये फल प्रमाण से कथेचित् भिन्न एवं कथेचित् अभिन्न हैं।

मीमांसकादि दार्शनिक स्वात्मा में किया विरोध मानते हैं तथा बौद्धानुयायी प्रत्यक्ष ज्ञान को व्यवसायात्मक नहीं मानते। ग्रंथकार ने इन दोनों ही भत की मीमांसा की है तथा दोनों के भत का युक्ति पुरस्करणहार किया है।

प्रमेय तत्त्व परीक्षा :-

इस प्रकरण में प्रमेय तत्त्व की परीक्षा की गयी है। प्रमाण जिसे विषय करता है, उसे प्रमेय कहते हैं। इस प्रकरण के प्रारंभ में ग्रंथकार ने प्रमेय सामान्य है कि विशेष है? एक है कि अनेक हैं? आदि नानाविधि प्रश्न उपस्थित किये हैं।

प्रमेय तत्त्व परीक्षा का आधार ये ही प्रश्न है ।

प्रमेय को सांख्य सामान्य, बीदृ विशेष, वैशेषिक सामान्य-विशेषोभय ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मस्वरूप मानते हैं । परस्पर निरपेक्ष ये मान्यताएँ असिद्ध हो जाती हैं । अतः प्रमाण सापेक्ष सामान्य-विशेषोभय है ।

सापेक्ष एकानेकोभय को स्थिर करते हुए ग्रंथकार ने सप्तभंगी का प्रयोग किया है ।

बीदृ तत्त्व को सकल विकल्पों के बचन अगोचर मानते हैं । उन के भत्त के अनुसार शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । इस विषय पर ग्रंथकार ने विशद प्रकाश डाला है । शब्द व अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है । ग्रन्थान्त में ग्रंथकर्ता ने निर्दोष जैनशासन जगत् में एकाधिपत्य को प्राप्त क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर दिया है । उत्तर के लिए उन्होंने आ. समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन ग्रन्थ का प्रमाण दिया है ।

ग्रंथकर्ता की प्रीढ़ता :-

ग्रंथकर्ता श्री नरेन्द्रसेनाचार्य उत्कृष्ट दार्शनिक एवं संस्कृत भाषा के महान् विद्वान् थे, ऐसा इस ग्रंथ की शैली से ज्ञात होता है । सभी जानते हैं कि न्यायशास्त्र की भाषा अपेक्षाकृत जटिल एवं दुरुह होती है । इस ग्रंथ की भाषा शैली सम्बन्धित विशेषता यह है कि इस की भाषा अत्यन्त अलंकारिक एवं प्रवाहिता से युक्त है । इन दो गुणों से इस ग्रंथ का भाष्यिक सौष्ठुद उभर कर आता है ।

विविध विकल्पों एवं तर्कों द्वारा जो उहापोह किया गया है, वह सूक्ष्म रूपेण विलोकनीय है ।

बीच-बीच में कहीं न्याय वाक्यों का व कहीं मुहावरों का प्रयोग अत्यन्त रोचक है, जैनजैन दार्शनिकों के प्रमाण उद्धृत कर के उन पर जो समालोचना की है, उस के कारण ग्रंथ का प्रामाण्य निखार उठा है । छोटे-छोटे परिच्छेदों के द्वारा जिन निगृह तत्त्व को ग्रंथकार ने समझाया है, उन पर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता ।

इस ग्रंथ का सम्पादन :-

इतना सुन्दर ग्रंथ अबतक अननुवादित था । लगभग 38 वर्ष पूर्व अर्थात् 1961 में यह ग्रंथ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला की ओर से मूल रूप में प्रकाशित किया गया था ।

प्राचीन ग्रंथों का वैशिष्ट्य एवं उन की संस्कृति सुरक्षा करने की शक्ति को विलोक कर प. पू. गुरुदेव¹⁰⁸ श्री सुविधिसागर जी महाराज का ध्यान इन ग्रंथों की ओर यादा । आजकल वे किसी न किसी ग्रंथ के अनुवाद में व्यस्त रहते हैं ।

उन्हीं का यह अद्यक प्रयत्न तथा जिनवाणी के प्रति उन की विशिष्ट भक्ति इस अनुवाद का कारण है । सरल भाषा में हुआ यह अनुवाद जन-जन को लाभान्वित करेगा, ऐसी आशा है ।

**आधिकाद्वय
सुविधि-सुयोगयती**

16-10-99

चांथकर्ता का परिचय

इस ग्रंथ का अन्तिम पुष्टिका वाक्य इस प्रकार है- इति श्री नरेन्द्रसेन विरचिता प्रमाण-प्रमेय-कलिका समाप्ता ।

इस पुष्टिका वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ के रचयिता नरेन्द्रसेन हैं ।

नरेन्द्रसेन नामक अनेक विद्वान् हैं । यथा-

A— न्यायविनिष्ठयविवरण नामक ग्रंथ के रचयिता आ. बादिराज ने ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति के द्वितीय काव्य में नरेन्द्रसेन का उल्लेख किया है । अतः प्रथम नरेन्द्रसेन शक संवत् 947 से पूर्व के हैं, ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि आ. बादिराज शक संवत् 947 के हैं ।

B— द्वितीय नरेन्द्रसेन जिनसेन के अनुज हैं । उन का गुणानुवाद करते हुए “नागकुमार चरित” की अन्तिम प्रशस्ति में आ. मलिलधेण लिखते हैं कि

तस्यानुजश्चारुचरित्र वृत्तिः,

प्रख्यातकीर्तिर्थुक्ति पुण्यमूर्तिः ॥

नरेन्द्रसेनो जितकादिसेनो,

विज्ञातसत्त्वो जितकामसूत्रः ॥

अर्थात् उन [जिनसेन] के अनुज, उज्ज्वल चारित्र के धारक, प्रख्यात कीर्ति, पुण्यमूर्ति, वादियों की सेना के विजेता, तत्त्व विज्ञाता, कामसूत्र के जेता नरेन्द्रसेन हैं ।

प्रशस्ति के पंचम पद में आ. मलिलधेण ने अपने को नरेन्द्रसेन का शिष्य घोषित किया है

आ. मलिलधेण का काल आ. बादिराज से 22 वर्ष पश्चात् का है अर्थात् शक संवत् 969 है ।

हो सकता है कि जिन नरेन्द्रसेन का गुणानुवाद आ. बादिराज ने किया है, उन्हीं का आ. मलिनविषय ने भी किया हो। एक लोक प्रसिद्ध व्यक्ति के काल में उस नाम को रखने की रुदि प्रथमित है। अतः यह भी हो सकता है कि ये नरेन्द्रसेन प्रथम नरेन्द्रसेन के समकालीन या लिकटकालीन हो।

C— तृतीय नरेन्द्रसेन पण्डिताचार्य की उपाधि से समर्पित हैं। इन के द्वारा रचित “सिद्धान्तसार-संग्रह” तथा “प्रतिष्ठादीपक” ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

इन आचार्यदेव का काल विक्रम की 12वीं शताब्दी है।

D— चतुर्थ नरेन्द्रसेन का उल्लेख लालठड़व के राजुआदिगढ़ की पट्टावली में पाया जाता है। वे प्रभावशाली थे। इन का समय लगभग विं सं. 138। का है।

E— पंचम नरेन्द्रसेन वे हैं, जो शूररथ [सेन] शण के पुष्कर गच्छ की गुरु परम्परा में लग्रसेन के पट्टाधिकारी हुए। इन का काल लगभग शक संवत् 1652 है।

पण्डित प्रवर दरबारीलाल जी ने नरेन्द्रसेन के सात उल्लेख किये हैं, परन्तु उन का मानना है कि स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने वाले चार नरेन्द्रसेन नामक विद्वान हैं। उन के अनुसार अन्त में उल्लिखित किये गये नरेन्द्रसेन ही इस ग्रंथ के लोखक हैं।

अर्जुनसुत सोयरा ने नरेन्द्रसेन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

तस पट्टे सुखकार नाम भट्टारक जानो ।

नरेन्द्रसेन पट्टधर तेज मार्तंड बखानो ॥

जीती वाद पवित्र नगर चंपापुर माहे ।

करियो जिनप्रासाद ध्वजा गगने जड सो है ॥२६॥

[भट्टारक सम्प्रदाय-पृष्ठ 21]

इन के काव्यों का उल्लेख करते हुए प्र० दरबारीशाल जी ने 4 काव्यों का उल्लेख मुख्यरूप से किया है । यथा-

- 1- प्रस्तुत 'प्रमाण प्रमेयकलिका' की रचना ।
- 2- तत्कालीन पुरानी हिन्दी में 'पाश्वनाथ पूजा' तथा 'वृषभनाथ पालणा' इन दो जनोपयोगी 'भक्तिपूर्ण' रचनाओं का निर्धारण । ये दोनों रचनाएँ अप्रकाशित हैं और हमें उपलब्ध नहीं हो सकीं । अतः उन के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं ढाला जा सकता ।
- 3- कमलेश्वर (नामपुर) के जिनमन्दिर में इहोंने श्री गोपाल जी गंगाड़ा के द्वारा एक 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी ।
- 4- सूरत के आदिनाथ चैत्यालय में रह कर पुष्पदन्त के 'यशोधरचरित' की एक प्रति लिखी, जिस से इन के शास्त्र-लेखन की विशेष प्रवृत्ति जानी जाती है ।

इन बातों से यह सिद्ध होता है कि ग्रंथकर्ता बादिविजेता, संस्कृत पारंगत एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के धारक थे ।

मुनि मृत्विश्वराम

प.पु. युवापुनि 108 श्री सुविधिसागर जी महाराज का परिचय

श्रमण संस्कृति की विश्ववन्द्य परम्परा अनादिकाल से संचरित हो कर अद्यावधि पर्यन्त अनन्तों भव्यों को अंजन से निरंजन बना दुकी है। आज भी यह संस्कृति अनेक जीवों के कल्याण में प्रयत्नशील है। उसी श्रमण संस्था के एक सदस्य हैं परम पूज्य युवापुनि 108 श्री सुविधि सागर जी महाराज।

अत्यल्प उम्र में भुवि पद जैसा महापद तथा साथ ही अनेकविधि कलाओं का ज्ञाता शायद ही अन्य कोई हो सकता है। उत्कट भक्ति, विशुद्धज्ञान, ऋजु परिणाम, अखण्ड साधना, कट्टर चरित्र, स्वच्छतायुक्त विचार, धाराप्रवाहित वाणी, अकाट्य तर्क, अचिन्त्य प्रज्ञा, अनेकानेक गुणों के निलय हैं आप।

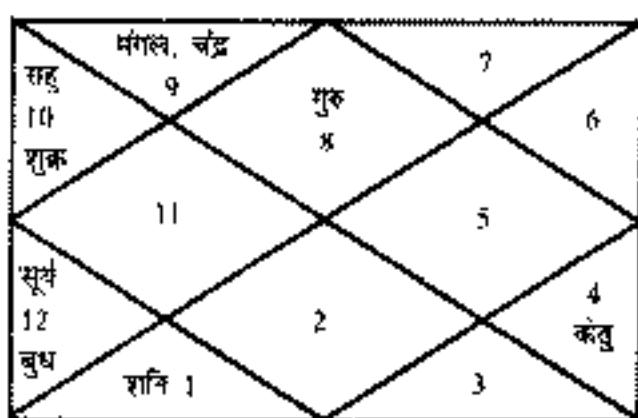
जन्म:- महान् च स राष्ट्रः महान् राष्ट्र महाराष्ट्र का श्रमण संस्कृति के विकास में अद्वित योगदान है। अनेकानेक श्रमणों की प्रसूता पवित्र रत्नगर्भ यह भूमि है। उस महाराष्ट्र में औरंगाबाद नामक प्रसिद्ध औद्योगिक नगर है। वहाँ जैनानुयायिओं के करीब 4000 घर हैं व अनेक गगनचुम्बी जिनालय हैं।

खण्डेलवाल जाति को यहाँ विस्मरण कर देना कृतञ्जला ही मानी जायेगी। संवत् ६०१ में आचार्य मेषचन्द जी, संवत् १२६४ में आचार्य वसन्तकीर्ति जी, संवत् १२६८ में शान्तिकीर्ति जी महाराज ने इसी जाति में जन्म लिया था। वर्तमान शताब्दी में भी आचार्य वीरसागर जी, आचार्यकल्य चन्द्रसागर जी, आचार्य शिवसामर जी, आचार्य धर्मसागर जी, सपाधिसग्राट् सुपाश्वरसागर जी, आचार्य श्रेयाससागर जी इसी जाति के सितारे थे। आप भी इसी खण्डेलवाल जाति के सुपुत्र हो।

पापड़ीवाल वंश को कौन नहीं जानता? लाखों जैन भूतियों की प्रतिष्ठा करने वाले जीवराज जी पापड़ीवाल इसी वंश के थे।

औरंगाबाद नगर में धर्मरत्न इंद्रचंद जी पापड़ीवाल रहते हैं, उन की धर्म के प्रति अच्छी रुचि है। माँ कंचनबाई की कोख से जयकुमार व भरतकुमार नामक 2 पुत्र तथा विजया नामक (मैं स्वयं) कन्या ने जन्म लिया।

जयकुमार का जन्म १९ मार्च ७१ को हुआ था। आप के जन्म के ग्रह इस प्रकार स्थिर हैं -



योग -	व्यक्तिगति	नाहाई -	दर्शा
गण -	रक्षस	जन्मनामाक्षर -	य
योनि -	श्वान		

कुण्डली के अनुसार आप का नाम यशवन्त कुमार रखा गया था। जब आप का जन्म हुआ था, परिवार में आर्थिक संकट था, किन्तु आप के जन्मसे ही परिवार ने आर्थिक संकट पर जय प्राप्त कर ली थी, अतएव आप को जयकुमार या जयेश कहा जाने लगा और यही नाम आपे प्रचलित हुआ।

हो सकता है कि नाम आप की भावी प्रतीत या महानता का प्रदर्शन कर रहा था।

रोग :- कहते हैं कि संकटों से दो हाथ करने वाला ही महापुरुष बनता है। आप के जन्म के मात्र तीसरे दिन ही आप को आँखों में नासुर नामक रोग हुआ, अब तक उस के 6 अौपरेशन ही चुके हैं। वस्त्रपन में

5 वर्ष तक आप कमर खारवी के कारण बैल नहीं पाये थे। यद्यपि काफी इलाज किये गये फिर भी आप के उपर्युक्त दोनों ओंग आज तक कमज़ोर स्थिति में हैं।

डॉक्टरों ने माता से कहा “मौ, हम एक कटु सत्य कह रहे हैं, येर्य रखकर सुनो कि यह बालक अधिक दिन तक जीवित न रहेगा। किन्तु, आप जीवित ही क्या ? एक महापद पर आसीन हो।

स्वभाव :- धरोपकार करना, सत्य बोलना, आप के स्वभाव में सुनिष्टप्रदस उपहार है। अन्यथा के सामने झुकना तो आप ने कभी सोचा ही नहीं। डर तो आप के नाम से ही डरता था। गंभीर चिंतन, प्रसन्नचित्तता, विनोदप्रियता, अजातशत्रुता का दर्शन आप के व्यक्तित्व द्वारा होता है। जिद् आपके स्वभाव की विशेषता थी, जिस काम करने की आप की इच्छा होती थी, आप करते ही थे और नहीं करना हो तो फिर किसी की क्या ताकत ? जो आप से काम करा दिखा दे।

आप स्फष्टबादी हैं और यही कारण है कि आप कई बार विवाद के कारण बन गये।

पाठ्याला में आप छवीं कक्षा में पढ़ते थे, दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ा कर आप ने शिक्षक दिवस के अवसर पर उत्कृष्ट शिक्षक का पुरस्कार पाया। पुरस्कार वितरण के समय कटोरियाँ बाटी गई पुरस्कार के बाद आप को भाषण करने का अवसर मिला।

आप ने कहा “ मैं सोचता था कि मैं लुद्धिवादियों के बीच आया हूँ, किन्तु पुरस्कार व्यक्ति ने मेरा भ्रम दूर कर दिया। विद्यार्थियों को शैक्षणिक साहित्य देने की बजाय कटोरियाँ देने के पीछे हमारे शिक्षक वर्ग का क्या उद्देश्य है, क्या पता ?

प्रधानाध्यापिका ने आप के भाषण के बाद भूल स्वीकार की तथा पुरस्कारों को बदल कर दिया गया।

एक नहीं, ऐसी अनेकानेक घटनायें हैं।

शिक्षण :- पहली से गाँचबी तक आप ने औरंगाबाद में ही शिक्षण पूर्ण किया। आप मध्यम परिस्थिति वाले परिवार में रहते थे। पिता के सदुशा माता भी कामकाज कर के गुहाखर्च चलाती थी। आप स्वाभिमानी थे। आप का झगड़ा चचेरे भाई विनोद के साथ हुआ। शिक्षण की तरफ भाँ पिता ध्यान न दे पा रहे थे, इसीलिये आप को दाहुबली (कुम्भोज जिला कालापुर) पढ़ने के लिये भेजा गया। कहते हैं ना कि 'भवितव्य बलवती' भवितव्य बलवान् होता है। शायद दीक्षा के भावों का बीआरोपण वहीं होना था। आपने कक्षा 6 में पढ़ते हुये आचार्य समन्भद्र जी महाराज से शुद्रजल त्याग, गत्रिभोजन त्याग, ईजक्षण त्याग, कन्दमूल त्याग, पतली दवाई त्याग, चम्पल त्याग आदि अनेक द्रवत ग्रहण किये। तथा 25 वर्ष की उम्र होने तक द्वृद्धचर्यवत लिया था। आप जब दूसरी कक्षा में पढ़ते थे, तभी आप ने चाय का त्याग किया था। लौकिक अध्ययन के साथ भार्मिक अध्ययन गुरुसेवा का द्रवत आप ने प्ररम्भ किया।

आठवीं कक्षा तक वैराघ्य परिपक्व हो चुका था। एक बार आप परम पूज्य आचार्य 108 श्री पाश्व सामर जी महाराज के साथ निकल गये। शिक्षकों ने आप को मार पीट कर पुनः आश्रम तक लाया, लेकिन ऐसा बंधन कहाँ? जो आप को बाध सके। आप एक दिन पूज्य क्षुल्लक 105 श्री जयभूषण महाराज के साथ आकिंवाट- नामक गाँव में चले गये। वहाँ से पिताजी अप को पुनः ले आये।

अब आप को औरंगाबाद में ही पढ़ाया जाने लगा। आप के बिचार बदल जाये, इसलिये काफी प्रथल किये गये, लेकिन उस का फल पत्थर पर बीज बोने के समान विफल ही गया। आप तो ऐसे समान निश्चल बने रहे। मन में आप ने आगे बढ़ने का संकल्प किया। गुरु की आवश्यकता आप को पहसुम ही तब आप परम पूज्य आचार्यकल्य 108 श्री हेमसामर जी महाराज के दर्शनार्थ शोलु नामक गाँव में गये। आप ने अपना मन्त्रव्य गुरु के घरणों में निवेदन किया। कौन गुरु सुखोग्य शिष्य पा कर हस्ति नहीं होते? महाराज श्री ने उद्देश दिया "बेटा! तुम 10वाँ

कक्षा पूर्ण कर संघ में आओ !” आज्ञाधारक जय विना कुछ कहे और गाबाद आ गये व आगे की शिक्षा प्रारंभ की ।

नियम आप के प्राण थे, आप नियम के लिये सबकुछ त्थागने को तैयार थे । ७वीं कक्षा के समय भाद्रपद माह में आप पूजा-अभिषेक के पश्चात् पाठशाला जाते थे । शिक्षकों की अनुकम्पा के कारण प्रतिदिन देर से जाने पर भी आप पर कोई पाबन्दी नहीं हुई । दसवीं के समय का पर्युषण आप ने हेमसागर जी महाराज के चरणों में ही किया ।

एक बार की बात है । पाठशाला में इंजक्शन दिये जा रहे थे, जय को इंजक्शन न लेते देख कर एक शिक्षक महोदय ने सोचा कि शायद डर के कारण नहीं ले रहा होगा । उन्होंने जबरदस्ती की, तब आप ने निवेदन किया कि “मेरा नियम है, अतएव मैं इंजक्शन नहीं ले सकूँगा ।”

शिक्षक- “तुम्हें लौशा ही पड़ेगा ।”

जय तो बादी थे ही, कहा- “सर, रोजे के दिनों में आप को कोई दिन में खाने को दे, तो क्या आप खायेंगे ? शिक्षक- “नहीं ।” जय- क्यों ?

शिक्षक- यह हमारे धर्म का कानून है । “जय ने जोश में आ कर कहा कि” क्या सब कानून आप के ही धर्म में हैं ? मेरा यह नियम भी मेरे धर्म का कानून है, इसलिये मैं इंजक्शन नहीं लूँगा ।” शिक्षक जी गुस्से में आ गये । वे जोर से बोले “टी. सी. लेंकर घर जैठो ।” जय और इतना सब सुन लेवें ? वे भी क्रोधित हो उठे । उन्होंने कहा कि “भले ही भरना पड़े, पर नियम तो मैं नहीं सोढ़ूँगा । सर टी. सी. की गोदड़ धर्मकी से मैं नहीं डरता । मैं जा रहा हूँ ।” बस, उठाया बस्ता और घर चले आये ।

दूसरे दिन पिला जी ने पाठशाला में जा कर शिक्षक को सम्पूर्ण परिस्थिति से अवगत कराया । आप पुनः पाठशाला जाने लगे ।

इस तरह आप ने ९वीं व १०वीं का अध्ययन औरंगाबाद में किया ।

घर में आर्थिक सहयोग -

आप जब से समझने लगे थे, आप घर की आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ नहीं थे। अतएव आपने बच्चों को अध्यापन कराया, गोटियाँ गोलियाँ बेची, पतंग बेचे, दूध बेचा, बिस्कुट बेचे ७वीं व १०वीं के समय में जितने त्योहार घर में मनाये गये, उस में आप का सहयोग अधिक रहा।

वैराग्य व गुरुचरण की शरण-

आप बड़े महत्वाकांक्षी थे। बचपन से आप में कुछ कर गुजरने की इच्छा थी। स्वर्णपाणी यदि चतुर स्वर्णकार के हाथों में पड़ जाये तो फिर क्या कहना? आचार्य समन्भद्र स्वामी के वैराग्य पूर्ण उद्बोधन ने आप के मन में वैराग्य का बीजारोपण कर ही दिया था, उस को नष्ट करने के परिवारिक प्रयास व्यर्थ भी गये थे। गुरु आदेश पालनार्थ ही आप घर में रह रहे थे, किन्तु मन तो घर में था ही नहीं। इसी बच्ची १/२ वर्षायें ऐसी हुई, जिस में संसार की स्वार्थ परिणामि स्पष्ट झलक उठी, उन का मन वित्ताल हो उठा। सर्वानुभवि से २४ अप्रैल १९८६ को प्रातः ५ बजे आप ने घर का त्याग कर दिया व गुरुचरणों में पहुँच गये।

आप की प्रक्रिया हेमसागर जी महाराज को ज्ञात तो थी ही, अतएव संघ में जाते ही ७/८ दिनों में आप को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया गया। यह संस्कार जलगाँव के निकट नंगी नामक लघु ग्राम में हुआ। अब आप जैनेन्द्रकुमार नाम से पुकारे जाने लगे। रागियों की तरह के वस्त्रों का त्याग कर आप ने धोती दुष्टु परिधान कर लिया। गुरु के साथ विहार करने लगे। संघसहित विहार करते समय आप अतिशय क्षेत्र कचनर पहुँचे। वहाँ आषाढ़ सुदी अष्टमी को आप ने सात प्रतिमा धारण की।

हेमसागर जी महाराज आगम के अध्येता, गंभीर विचारक, उदारचेता, आत्मा साधक साभु हैं। उन के चरण कमल में आप का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। गुरुमुख से आप ने जैन प्रारंभिक ग्रन्थों का अध्ययन किया।

प्रथम चातुर्मास औरंगाबाद में हुआ, चातुर्मास के बाद आप जबलपुर गये। वहाँ से आग्रा व आग्रा से अवागढ़ गये। अवागढ़ में परम पूज्य

आचार्य 108 श्री विमलद्वागर जी महाराज विराजमान थे, आप उन के साथ कम्पिल जी की यात्रा कर पुनः एश्य भगव भैं आ रहे थे। वहाँ से आप पुनः गुरु चरणों में आ गये। आप ने गुरु से क्षुल्लक दीक्षा की याचना की। गुरु आप के त्यग परिणति से परिचित थे, अतएव उन्होंने आप के सुधार हेतु अयोग्यत्वक उत्तर दिया कि “अभी छोटे हो, गाड़ियों भैं घूमा, कष्टी और दीक्षा देंगे।”

तत्काल आप समझ गये कि गुरुदेव का आदेश क्या है? उन्होंने गुरुचरणों में श्रीफल छढ़ा कर आजीवन बाहर का त्याग किया। तब गुरुदेव ने दिनांक 13 मार्च 87 को नगर शिऊर में प्रातःकाल के समय आप को क्षुल्लक दीक्षा दी। आप का नाम रवीन्द्रसागर रखा गया।

आप लघु दीक्षा से अद्यति संतुष्ट नहीं थे, किन्तु उम्र को देखते हुये महाराज श्री का निर्णय अनुचित भी तो नहीं था। अब आप अध्ययन में मन अधिक रमाने लगे। रोज रात्रि को आप शास्त्र प्रवचन करते थे। बचपन से आप भाषण कला में प्रवीण थे, अतएव आप के प्रवचनों में अधिक संख्या उपस्थित होने लगी। गुरुचरणों में यह कार्यक्रम होता था अतएव वे समय मध्य पर उचित मार्ग दर्शन के द्वारा शैली का परिवर्तन करते थे। आपकी शैली में आगम, तर्क, नवविवेक समाविष्ट हो गई। आप दिन भर जो व्याधाय करते थे वे चिन्तन करते थे, उसे ही प्रवचन में कहते थे, अर्थात् यह रटाया लपदेश आप कर न था अतएव उस में भाग प्रवाहिकता भी होती थी।

1987 का आतुर्माय न्यायडॉगरी (जिला-माशिक) में हुआ। चार माह घे आप ने अपनी साधना में बुढ़ि की। चातुर्मास के पश्चात् 23 अक्टूबर 87 को आप ने एलक दीक्षा प्रहण की। गुरुदेव ने आप का नाम रूपेन्द्र सागर रखा। दीक्षा के पश्चात् गुरुदेव के साथ मांगीतुंगी क्षेत्र की बंदना की वहाँ से आप सानज (मालेगाँव) आये व यहाँ से गुरुचरण छोड़ कर अनेक विचरण करने लगे।

आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के चरणों में नमन व दीक्षा-

आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज, आचार्यकल्प हेमसागर जी महाराज के दोशा गुरु हैं। आप अकेले विचरण कर रहे हैं, ऐसा जब उन्हें ज्ञात

हुआ तब उन्होंने आप को आदेश दिया कि "या तो आप गुरु चरणों में जाओ या इधर चले आओ। अकेले रहना ठीक नहीं है।" आप ने आचार्य श्री का आदेश पालन करने का निर्णय ले लिया। बड़े कदम राजस्थान की ओर देखते ही देखते 25 दिनों में कुशलगढ़ पहुँचे। 5 दिन सोनगिर में, 2 दिन झाबुआ रुकना पड़ा था, कुक्षी से निकलने के बाद लालरपुर में आप अकस्मात् बिमार भी हो गये, फिर भी अल्पावधि में 587 किलोमीटर पहुँच गये। वह चातुर्मास कुशलगढ़ ही हुआ। यहाँ आप ने काफी अध्ययन किया।

चातुर्मास के बाद कार्तिक शुक्ला 3 को विहार कर अष्टमी को आचार्य श्री के चरणों में बौसवाड़ा शहर पहुँच गये। अब आप आचार्य श्री के साथ विहार करने लगे। संघ अतिशय क्षेत्र डेढ़ा (जिला दूर्गापुर) पहुँचा, वहाँ आप ने मुनि दीक्षा धारण की। यह शुभ समारोह 11-5-89 को ग्रामकाल के समय हुआ। गुरु चरणों में आप ने एक चातुर्मास किया और फिर निकले निजर्णतब्य की ओर।

अब तक के आप के चातुर्मास -

1-	1986	औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ब्रह्मचर्यविस्था
2-	1987	न्यायडोंगरी (महाराष्ट्र) क्षुल्लकावस्था
3-	1988	कुशलगढ़ (राजस्थान) ऐलकावस्था
4-	1989	सागवाड़ा (राजस्थान) मुनि अवस्था
5-	1990	बड़नगर (म.प्र.) मुनि अवस्था
6-	1991	परसोड़ा (महाराष्ट्र) मुनि अवस्था
7-	1992	सोनगिर (महाराष्ट्र) मुनि अवस्था
8-	1993	बड़नगर (म.प्र.) मुनि अवस्था
9-	1994	पचेश्वर (राजस्थान) मुनि अवस्था
10-	1995	चंवलेश्वर ("") - "
11-	1996	ब्यादर ("") - "
12-	1997	मदनगंज ("") - "

13-1998

सुजानगढ़ (८)

14-आस

(विहार) मुनि अवस्था

भाषा ज्ञान- आप को मराठी, हिन्दी भाषा का अच्छा ज्ञान है। संस्कृत व प्राकृत के ज्ञान की परिपक्वता बनाने में तत्त्वजीन हैं, गुजराती भाषा आप पढ़े लेते हैं। माराठी भाषा आप की जन्म भाषा है। अंग्रेजी का स्वरूप ज्ञान आप को है।

प्रबन्धन व अध्यापन शैली- करणानुयोग व न्यायशास्त्र का आप का अत्यज्ञान है, फिर भी अन्य अनुयोगों में आप का अच्छा बच्चस्त है। आप सतत स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा में रहते हो।

वाणी की सुन्दर एवं सरस अभिव्यञ्जना के कारण आप जादू भरे वाम्पी हैं। प्रबन्धन का एक एक शब्द श्रोताओं के मन पर अधिकार जमाता है, अथेत, शुष्क हृदय भी क्षणपात्र में विगतित करने की ताकत आप के बच्चनों में है।

जैन मन्दिर, हिन्दूमन्दिर, नगर के मुख्य चौक, कारणगृह, स्कूल कॉलेज आदि अनेक स्थानों पर आप के प्रबन्धन हुए हैं। आप ने काशी पीठानी व भूलालानी, रातुसंह अभिषेक, हिन्दूसंत निर्मल जी, रामकृष्णराजार्थ, श्वेताम्बर संत चम्दनमुनि, जगतचन्द्र विजय, साध्की प्रज्ञाश्री, आचार्य रमेशमुनि, आदि आदि। सर्वधर्म सम्मेलनादि कार्यक्रमों का नेतृत्व भी आपने किया है। अनेकानेक दिग्म्बर जैनेतर साधुओं के साथ प्रबन्धन किये हैं।

आप के प्रबन्धन में ओज है, आगम की धारा प्रवाहिकता है, विषय की सर्वांगीनता है। सोनगिर में समयसार की मात्र ३३ गाथाओं पर आप ने १२० प्रबन्धन किये। इन्दौर के उदासीन आश्रम में समयसार की ३ गाथाओं पर करीब ३५ प्रबन्धन हुये। प्रतापगढ़ में नाटक समयसार के गाथा नं० ७ पर ३० प्रबन्धन हुये।

प्रबन्धन की तरह अध्यापन शैली भी अद्वितीय है। प्रत्येक चातुर्भास में आप नवयुवकों को धार्मिक शिक्षाओं की घुटी पिलाने में व्यस्त रहते हैं।

आप के चिन्तन में नवीनता एवं उदासता है। फिजुलखचीपना आप को बिल्कुल पसंद नहीं है। समय की याबन्दी के सम्बंध में आप अत्यधिक सचेत हैं।

आप कवि हैं, वक्ता हैं, गायक हैं, निन्तक हैं, लेखक हैं, कथाकार हैं, अध्यापक हैं, गुरु हैं। ना जाने कितनी गुण आप के उत्तरप्रक्षाल करने में तत्पर हैं।

शिष्यवर्ग- आप को जैसे स्वात्महित की चिन्ता है, वैसे आप जीवों का हित करने में सजग हैं। आप के वात्सल्यमयी स्वभाव से व अनुशासन प्रियता से अनेकों भव्य जीव ब्रतादिक के लिये तत्पर हो जाते हैं, किन्तु आप तराशते हैं, परीक्षा के बाद ही शिष्यत्व प्रदान करते हैं। अबतक आप ने एक मुनि एवं 4 आर्थिकाओं को दीक्षा दी है। मुनि सुबोध सागर जी, आर्थिका सुगतमती जी, आर्थिका सुवर्णमती जी, आर्थिका सुविधिमती जी, आर्थिका सुखोगमती जी ये आप के शिष्यों के शुभनाम हैं।

आर्थिका सुगतमती माताजी संघरथ आर्थिका सुविधिमती माताजी की गृहस्थावस्था में नानी थी, 43 घण्टे पूर्व दीक्षा ले कर उन्होंने अपनी आत्मा का कल्याण किया। जैन वाता विश्राम की वर्तमान संचालिका श्रीमती सुलोचना जैन ने आप से दो प्रतिमा ब्रत ग्रहण किये। आर्थिका सुवर्णमती माताजी गृहस्थावस्था में आप की दादों थी।

इस के अलावा आप ने एक महिला को 7 प्रतिमा दी है। परमपूज्य आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के संघरथ पूर्व मुनि सकलकीर्ति जी महाराज ने आप से सात तथा आर्थिका सुबुद्धिमती माताजी ने 6 प्रतिमा आप से ली थी। 4 कन्याओं वे आजीवन ब्रह्मचर्य ब्रत ले कर आत्मसाधना करना प्रारंभ की है।

मंगल कामना- आप की धर्म साधना व ज्ञान आराधना सतत वृद्धिंगत होती रहें, शिष्य परिवार सतत बढ़ता रहे, स्वास्थ्य ऐश्वर्य की प्राप्ति आप को हो, आप के द्वारा नवनवीन साहित्यों का सृजन हो, जिस से भव्य जीव अपना कल्याण कर सके। बस, यही मंगल कामना।

गुरु चरण सेविका
सौ. विजया

प्रमाणप्रमाणयक्तिलक्षीय

प्रमाणतत्त्व-परीक्षा

ज्ञानि निर्जितापेष-सर्वथैकान-नीतिः ।

सत्यवाक्याधिषः शश्वद् विद्यानन्दा जिनेश्वरः ॥

अर्थ- जिन्होंने समस्त सबथा एकान्तवादियों की नीतियों को जीत लिया है, जो सत्य वाक्य के अधिपति हैं, जो सदैव विद्या ज आनन्द में लीन रहते हैं, वे जिनेश्वर जयवन्त हैं ।

भावर्थ :- वह मंगलाचरण काव्य है । मूल रूप में यह छन्द आ विद्यानन्द विरचित प्रमाणपरीक्षा में पाया जाता है । आ विद्यानन्द कृत मंगलाचरण को अपने ग्रंथ का मंगलाचरण स्वीकार कर के ग्रंथकर्ता में अपनी पूर्वचार्यों के प्रति महान् भक्ति प्रकट की है ।

इस मंगलाचरण की विशेषता यह है कि रचयिता ने अपना नाम श्लोकालंकार में दिया है ।

श्लोक में प्रयुक्त जिनेश्वर शब्द बहुवचनात् है । अतः इस शब्द का चौबीस तीर्थकर अथवा अतीत-अनागत-वर्तमान विषयक समस्त अरिहन्त अथवा अनन्तानन्त सिद्ध ऐसा अर्थ होता है । कैसे हैं, वे जिनेश्वर ?

1. सर्वथा एकान्तवादियों की नीतियों को जीतने वाले हैं ।
2. सत्य वाक्य के अधिपति हैं अर्थात् युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध वचनों के स्वामी हैं ।
3. विद्या यानि ज्ञान और आनन्द यानि सुख में लीन रहते हैं । ज्ञान और दर्शन अविनाभावी हैं, अतः ज्ञान से दर्शन का भी ग्रहण करना चाहिये । वीर्यवान् ही सुखी होता है । अतः आनन्द शब्द के अन्तर्गत ही वीर्य का ग्रहण होता है । संक्षिप्ततः विद्यानन्द शब्द अनन्त चतुष्टय का द्योतक है ।

इन गुणत्रय से युक्त जिनेश्वर जयवन्त हैं ।

उत्थानिका - प्रमाण-प्रमेयद्विविधातत्त्वं विभज्य प्रथमं प्रमाणतत्त्वपरीक्षा प्रस्तृयते -

उत्थानिकार्थ - प्रमाण और प्रमेय इन दो प्रकार से तत्त्वों का विभाजन कर के प्रथम प्रमाण तत्त्व परीक्षा प्रस्तुत की जाती है-

1. जब कि तत्त्वम्, तदुच्चिन्ताम् । यतस्तत्त्वपरिज्ञानाभावान् तदाश्रिता मीमांसा प्रमाणकोटिकुटीरकमटाट्यते । आधारापरिज्ञाने आध यथरिज्ञानाभावात् ।

अथ भवतु नाम नामतः सिद्धं विवित्तत्त्वम्, यतस्तत्त्वं सामान्ये नाभ्युपगमश्च पश्चाद्विचार्यते, तस्यसामान्ये केषाचिद्विप्रतिपत्त्यभावात् ।

तद्विधारणायाः कोषित्यामणेन विवित्यम्, प्रमाणार्थीनात्यपेक्ष्य ।

तत्रापि प्रमाणसामान्ये न केषाचिद्विप्रतिपत्तिरसित, तद्विशेषे तु स्वरूप संख्या-विषय-फलस्तक्षणाश्चतत्यो विप्रतिपत्तियो भवन्ति ।

ततो भवतां यते प्रमाणस्य किं स्वरूपम् ?

कति प्रमाणानि ?

को वा विषय : ?

किं वा फलम् इति ?

अर्थ - तत्त्व क्या है ? उस का वर्णन करना चाहिये क्योंकि तत्त्व परिज्ञान के अभाव में तदाश्रित (तत्त्व विषयक) मीमांसा प्रमाण की कोटि (श्रेणी) का आधार नहीं बन सकती है । आधार का परिज्ञान हुए विना आधीय का परिज्ञान हो नहीं सकता ।

अब कोई तत्त्व नाम से सिद्ध होवें, क्योंकि तत्त्व को सामान्य से स्वीकार कर के पश्चात् ही विचार किया जाता है । तत्त्व सामान्य में किसी को भी विवाद नहीं है । तत्त्व विशेष के विचार करने में किसी प्रमाण का होना आवश्यक है, क्योंकि प्रमेय प्रमाण के आधीन होता है ।

उस में भी प्रमाण सामान्य में किसी को विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं

है। प्रमाण विशेष में तो स्वरूपलक्षण-संख्यालक्षण-विषयलक्षण और फललक्षण रूप चार प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ होती हैं।

आपके मत में प्रमाण का क्या स्वरूप है?

प्रमाण कितने हैं?

प्रमाण का विषय क्या है?

प्रमाण का फल क्या है?

भावार्थ - दर्शन शास्त्र का ग्रारंभ जिज्ञासा से होता है। अतः तत्त्व क्या है? यह प्रश्न प्रथम उत्तरन्न होना साहजिक है। तत्त्व का परिबोध हुए विना तत्त्वमीमांसा नहीं हो सकती, क्योंकि तत्त्वज्ञान के आधार से ही तत्त्वमीमांसा संभव है। आधार का परिज्ञान हुए विना आधेय का परिज्ञान नहीं हो सकता- यह शाश्वत सत्य है।

ग्रंथ का नाम ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय का प्रदर्शक होता है। ग्रंथ का नाम प्रमाणप्रभेयकलिका है। प्रमाण और प्रमेय ये दो प्रतिपाद्य विषय हैं। अतः तत्त्व की विस्तार से चर्चा करना इष्ट नहीं है। दूसरा कारण यह है कि तत्त्वसामान्य में किसी मतवालों को कोई विवाद नहीं है, इसलिए उस की चर्चा नहीं की गयी है।

तत्त्व प्रमेय है, अतः उस के विचार में किसी प्रमाण की आवश्यकता है।

प्रमाण सामान्य के विषय में भी कोई मतभेद नहीं है। प्रमाण विशेष में मुख्यतः चार प्रकार का मतभेद है। 1- प्रमाण का लक्षण 2- प्रमाण की संख्या 3- प्रमाण का विषय एवं 4- प्रमाण का फल।

1- प्रमाण का लक्षण- सम्बन्धज्ञान प्रमाण है, यह जैनों का मत है।

जिस में कोई विवाद नहीं है, ऐसा ज्ञान प्रमाण है, यह बौद्धसाम्पत्ता है। जो अनधिगत अर्थात् न जाने हुए पदार्थ को जानता है, वह प्रमाण है, ऐसा मीमांसक मानते हैं। अर्थ की उपलब्धि में जो कारण है, वह प्रमाण

हैं, ऐसा नैयायिकादि कहते हैं।

2- प्रमाण की संख्या में मतभेद- जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं। बौद्ध भी दो ही प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। पीभासकों के अनुसार अनुमान-शब्द-उपमान-प्रत्यक्ष-अर्थापति और अभाव ये छह प्रमाण हैं। नैयायिकों के मतानुसार प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान और शब्द ये चार प्रकार के प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम, इसप्रकार त्रिविध प्रमाण सांख्यों के द्वारा स्वीकृत हैं। चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं।

इस विषयक एक प्रसिद्ध श्लोक है-

चार्वाकोऽध्यक्षपेक्षं सुगतकणभुजौ सानुभानं सशाब्दं,-

तद्दैतं परमर्थः सहितमुपमया तत्त्वये आक्षणादः ।

अर्थापत्या प्रभाकृद् वदति स निखिलं मन्यते भट्ट एतत्,-

साभावं ह्वे प्रधाणे जिनपति समये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥

3- प्रमाण के विषय में मतभेद- जैनों के अनुसार सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है। सांख्यमत में जिस सामान्य के सत्त्व-रज और तम ये तीन स्वभाव हैं, वह सामान्य प्रमाण का विषय है। चार्वाक पञ्च महाभूतों को प्रमाण का विषय मानते हैं। निरपेक्ष सामान्य और निरपेक्ष विशेष प्रमाण का विषय है, ऐसा नैयायिक और वैशेषिकों का कथन है। पीभासक सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय स्वीकृत करते हैं। बौद्धमतानुयायी परस्पर में भिन्न-भिन्न, क्षण-क्षण में नष्ट हो जाने वाले परमाणु रूप स्वलक्षण प्रमाण के वास्तविक विषय हैं, ऐसा मानते हैं। वे स्कन्धों को प्रमाण का विषय नहीं मानते।

4- प्रमाण के फल में मतभेद- जैनों के मतानुसार अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा ये प्रमाण के फल हैं। अर्थज्ञान प्रमाण का फल है- ऐसा बौद्ध मानते हैं। पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण है तथा आगे-आगे का ज्ञान

उस का फल है, ऐसी मान्यता भीमांशुक आदि महाबलम्बियों की है।

2. तत्रादौ तावत्स्वरूपं जागर्ति-तदेतत्किं ज्ञातृव्यापारः, इन्द्रियवृत्तिर्वा, त्वारकसाकलो वा, सन्निकर्त्तो वा ।

ज्ञातृव्यापारश्चेत्, स च ज्ञातृभिन्नोऽभिन्नो वा । भिन्नश्चेत्संबन्धाभिन्दिः । भेदसंबन्धाभ्युपगमेऽतिप्रसंगः । यथा ज्ञात्रा सह संबद्धयते तथा पदार्थन्तरेणापि । भवतु वा यथाकथंचित् ज्ञातुरेव व्यापारः । स च किं क्रियात्मकोऽक्रियात्मको वा । यद्याद्यः पक्षः तदा सा क्रिया ततो भिन्नाभिन्ना वा । भिन्ना चेत्, पूर्वोक्तदोसानुषङ्गः ।

अथ पाश्चात्य पक्षः, तदा ज्ञातृमात्रं क्रियामात्रं वा भवति । अथाक्रियात्मकः, कथं व्यापारो नाम ? व्यापारस्य क्रियारूपत्वात् । तन्नासौ भिन्नः । नाम्यभिन्नः, एकस्वरूपतापत्तेनभ्युपगम्यात्त्वा ।

अर्थ - आदि में प्रमाण के स्वरूप का विचार करते हैं- क्या ज्ञातृव्यापार प्रमाण है अथवा इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य और सन्निकर्त्त व्यापाण है ?

यदि ज्ञातृव्यापार प्रमाण है, तो वह ज्ञाता से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो ज्ञाता के साथ उस के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी । भेद होने पर भी सम्बन्ध मानने पर अतिप्रसंग प्राप्त होगा । जैसे वह ज्ञाता के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है, वैसे ही अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होगा । वह किसी प्रकार से ज्ञाता का व्यापार ही हो । वह व्यापार क्रियात्मक होता है कि अक्रियात्मक ? यदि आदि पक्ष स्वीकार करते हो तो वह क्रिया उस से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है तो पूर्वोक्त दोष [सम्बन्ध की असिद्धि] का प्रसंग आता है ।

यदि आप द्वितीय पक्ष [अक्रियात्मक] स्वीकार करते हैं, तो वह ज्ञातृमात्र होता है या क्रियामात्र होता है ? यदि अक्रियात्मक है, तो उस का व्यापार ऐसा नाम कैसे हो सकता है ? क्योंकि व्यापार क्रिया रूप होता है ।

अतः ज्ञातुव्यापार ज्ञाता से भिन्न नहीं है ; अभिन्न भी नहीं है । दोनों में एक रूपता की आपत्ति प्राप्त होगी । [दोनों एकरूप हो जायेंगे ।]

भावार्थ - सर्वप्रथम प्रमाण के स्वरूप का विचार किया जाता है ।

मीमांसक ज्ञातुव्यापार को प्रमाण मानते हैं ।

सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं ।

जरन्नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं ।

क्या इन अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत किया गया प्रमाण का स्वरूप सत्य की श्रेणी में आता है ? इस विषय पर विचार करते हुए ग्रंथकर्ता सर्वप्रथम ज्ञातुव्यापार के प्रामाण्यत्व की परीक्षा करते हैं ।

प्रभाकर का मत है कि ज्ञातुव्यापार के विना पदार्थ का ज्ञान नहीं होता । जबतक ज्ञाता वस्तु को जानने के लिए प्रवृत्ति नहीं करता, तबतक उसे वस्तु का ज्ञान नहीं होता । वस्तु तो सर्वदा ही विद्यमान होती है, परन्तु ज्ञाता जब व्यापार करता है, तभी उन का ज्ञान होता है । आत्मा-इन्द्रिय-मन और पदार्थ का मेल होने पर ज्ञाता की प्रवृत्ति होती है, उस को ही ज्ञातुव्यापार कहते हैं ।

यदि ज्ञातुव्यापार प्रमाण हो, तो वह ज्ञातुव्यापार ज्ञाता से भिन्न होना चाहिये या अभिन्न होना चाहिये । ज्ञातुव्यापार ज्ञाता से भिन्न नहीं है, क्योंकि भेद रूप मानने पर ज्ञाता के साथ ज्ञातुव्यापार के सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती । भेद होने पर सम्बन्ध मानना अतिप्रसंग दोष है ।

शंका - अतिप्रसंग किसे कहते हैं ?

समाधान- नियम के व्यर्थ अधिक विस्तार को अतिप्रसंग कहते हैं । अथवा लक्ष्य एवं अलक्ष्य में पाये जाने वाले लक्षण को अतिव्याप्ति कहा जाता है । उस अतिव्याप्ति को ही अतिप्रसंग कहते हैं ।

जैसे वह ज्ञातुव्यापार ज्ञाता के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है, वैसे ही ज्ञाता के अतिरिक्त पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध का प्रसंग आने के कारण से ज्ञातुव्यापार को ज्ञाता से भिन्न मानने में अतिप्रसंग दोष है ।

वह ज्ञातुव्यापार ज्ञाता से अभिन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि अधेद में द्वितीय विलुप्त हो जाता है, अतः या तो ज्ञाता रहेगा, या उस का व्यापार।

किसी तरह ज्ञातुव्यापार को स्वीकार कर भी लेवे, तो भी प्रश्न होता है कि वह क्रियात्मक है कि अक्रियात्मक ? वह ज्ञातुव्यापार क्रियात्मक मानने पर फिर प्रश्न होता है कि क्रिया व्यापार से भिन्न है कि अभिन्न ? भिन्न हो तो सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा । अभिन्न मानने पर क्रिया रहेगी या ज्ञाता ।

वह ज्ञातुव्यापार अक्रियात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्यापार नियमतः क्रियात्मक ही होता है ।

अतः ज्ञातुव्यापार ज्ञाता से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है ।



उत्थानिका- प्रभाकराभिमतस्य ज्ञातुव्यापारस्य प्रामाण्यनिरासः

अर्थ- प्रभाकराभिमत ज्ञातुव्यापार के प्रामाण्य का निरसन-

3. किं च, असौ नित्योऽनित्यो वा । न तावन्नित्यः, कार्यत्वात्, घटवत् । नायनित्यः, तदुत्पादककारणाभावात् । तस्योत्पादकं कारणं तावदात्मा न भवति तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधात् । अर्थक्रिया च क्रमवैगमण्डाभ्यां व्याप्ता, ते च नित्यान्वितसंपादे स्व व्याप्त्यामर्थक्रियादाय निष्ठते । साधि स्व-व्याप्त्यं सत्यम् । नित्यं खरविषाणसदृशं स्वात् । तन्न ज्ञातुव्यापारः प्रमाणम् । तदभावात्कुतः प्रपेत्यसिद्धिः ।

अर्थ- अब यह बतलाइये कि वह ज्ञातुव्यापार नित्य है कि अनित्य है ? उसे नित्य नहीं माना जा सकता है, कार्य होने से, घट की तरह । वह अनित्य भी नहीं है, क्योंकि उस के उत्पादक कारणों का अभाव होने से । [उस के उत्पन्न करने वाले कोई कारण नहीं है ।] ज्ञातुव्यापार का उत्पादक कारण आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि आपने आत्मा को नित्य

माना है और नित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व का विरोध है । अर्थक्रिया क्रम और योगपद्धति के द्वारा व्याप्त होती है । क्रम और योगपद्धति नित्य से निवृत्तमान होते हुए अपने व्याप्त अर्थ क्रिया को ले कर ही मिलते होते हैं । वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्त सत्त्व को ले कर निवृत्त होती है । अतः नित्य पदार्थ खरविषाण के सदृश है । इसलिए ज्ञातव्यापार प्रमाण नहीं है । प्रमाण के अभाव में प्रमेय की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

भावार्थ - यूनः प्रश्न होता है कि ज्ञातव्यापार नित्य होता है कि अनित्य ? वह नित्य नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यापार घट की तरह क्रिया है । जैसे घट मिट्टी से होता है, उसी प्रकार ज्ञातव्यापार ज्ञाता से उत्पन्न होता है । क्रिया कभी भी नित्य नहीं होती ।

वह ज्ञातव्यापार अनित्य भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञातव्यापार को उत्पन्न करने वाले कारणों का अभाव है ।

ज्ञातव्यापार का उत्पादक कारण आत्मा है— ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रभाकर के मत में आत्मा नित्य है ।

अनंभट्ट ने लिखा है कि—

ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधः । परमात्मा जीवात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव । जीवात्मा प्रतिशरीर भिन्नो विभुर्नित्यश्च ! [तर्कसंग्रह]

अर्थ- जो ज्ञान का अधिकरण हो, वह आत्मा है । वह दो प्रकार का है, परमात्मा और जीवात्मा । उस में ईश्वर, सर्वज्ञ, परमात्मा एक ही है । जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन-भिन है, विभु है और नित्य है ।

आत्मा नित्य है और नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या युगपत् होती है । नित्य में न क्रम बनता है न योगपद्धति । अतः वे क्रम और योगपद्धति नित्य से अलग हो कर अपने स्वरूप [अर्थक्रिया] को भी खो देते हैं । अर्थक्रिया भी अपने व्याप्त सत्त्व को पृथक् कर देती है । नित्य में सत्त्व नहीं रहने पर नित्य खरविषाण के तुल्य अवस्था रह जाता है ।

ज्ञातुव्यापार नित्य भी नहीं है, अनित्य भी नहीं है, ज्ञाता से भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है, कियात्मक भी नहीं है— अक्रियात्मक भी नहीं है । इसप्रकार ज्ञातुव्यापार का लक्षण व प्रामाण्य असिद्ध है ।



उत्थानिका- सांख्याभिमताया इन्द्रियवृत्तेः प्रामाण्यनिरास

अर्थ- सांख्याभिमत इन्द्रियवृत्ति के प्रामाण्य का निरसन-

4. नापीन्द्रियवृत्तिः प्रभाणम्, अर्थप्रपिती साधकतमत्वाद्योगात् । तदयोगस्त्वचेतनत्वात् । न ह्यचेतनोऽर्थः करणम्, घटवत् । अचेतनत्वप्रिन्द्रियवृत्तेतिन्द्रियाणामचेतनत्वात् । अचेतनत्वं तेषां प्रकृतिं परिणामत्वात् ।

तथा चोक्तम्-प्रकृतेर्थहान् [सांख्यकारिका-22] इति ।

ततो नेन्द्रियवृत्तेरर्थप्रपिती साधकतमत्वम्, स्वप्रपितावसाधकतमत्वाद्, घटवत् ।

अर्थ- इन्द्रियवृत्ति भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि अर्थ प्रपिति में [अर्थ शास्त्रीय में] साधकतम नहीं है । इन्द्रियवृत्ति में साधकतमत्व का योग नहीं है, अचेतन होने से । अचेतन पदार्थ करण नहीं हो सकता है; घट के समान । इन्द्रियवृत्ति अचेतन है, क्योंकि इन्द्रियों अचेतन हैं । प्रकृति का परिणाम [परिणामन] होने से इन्द्रियों में अचेतनत्व है । कहा भी है कि-

प्रकृतेर्महास्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च घोडशकः ।

तस्मादपि घोडशकात्यज्ज्वरः ज्वरभूतानि ॥

[सांख्यकारिका-22]

इसलिए इन्द्रियवृत्ति अर्थप्रपिति में साधकतम नहीं है, घट के समान, स्वप्रपिति में असाधकतम होने से ।

भावार्थ- सांख्यों का कथन है कि जबतक इन्द्रियों अपना उद्घाटनादि व्यापार नहीं करती है, तबतक पदार्थों का प्रकाशन भी नहीं होता है । अतः

अर्थ प्रकाशन के कार्य में इन्द्रियों का व्यापार कारणभूत होने ये, वह प्रमाण है। मन-आत्मा या सन्निकर्ष आदि इन्द्रिय व्यापार के अभाव में अर्थ के परिच्छिति में कारक नहीं होते। अतः इन्द्रिय व्यापार को ही प्रमाण मानना चाहिये।

जैनाचार्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि इन्द्रियवृत्ति ज्ञान के द्वारा व्यवहित होने से अर्थ की जप्ति में साधकतम नहीं है।

इन्द्रियों अचेतन हैं। ऐसा स्वयं सांख्य मानते हैं। वे कहते हैं कि- सब से पहले प्रकृति से महत तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत यानि बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से स्पर्शमादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, वाक्-पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियों और मन इसप्रकार ग्यारह इन्द्रियों, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गम्भीरे ये पाँच तन्मात्राओं इसप्रकार सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल एवं गम्भीर से पृथ्वी इसप्रकार पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

इस से सिद्ध होता है कि इन्द्रियों प्रकृति से उत्पन्न होती है, जबकि सांख्य केवल पुरुष को चेतन मानता है। अचेतन प्रकृति से इन्द्रियों निष्पन्न हैं, अतः वे अचेतन हैं।

अचेतन इन्द्रियों ज्ञान का साधकतम नहीं हो सकती, अतः इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है। यदि उसे प्रमाण मान लिया जायेगा, तो घट-पटादि अचेतन द्रव्यों में भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ेगा।



5. किं च, इन्द्रियवृत्तिरिन्द्रियेभ्यो भिन्नभिन्ना वा । भिन्ना चेत् कथमिन्द्रियवृत्तिः, अतिप्रसंगात् । भेदे सतीन्द्रियाणामेवेचं वृत्तिर्नान्येषामित्येतत्कथं ग्रामाण्यप्रपञ्चतामज्ज्वति । अथाभिन्ना चेत्, तर्हि इन्द्रियाण्येव वृत्तिरेव वा भवति । ततो नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणतामुपदीकते । तथा च नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यवहितत्वात्, यद्योन व्यवहितं तत्त्वं तत्र प्रमाणम्, यथा कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारादिः, ज्ञानेन व्यवहिता चेन्द्रियवृत्तिस्तस्मान्नार्थप्रमितौ करणम् ।

अर्थ- किं च, इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है कि अधिन है ? यदि इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है तो उसे इन्द्रियवृत्ति कैसे भाना जा सकता है ? अतिप्रसंग दोष के आने से । इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से भिन्न होने पर यह वृत्ति इन्द्रियों की ही है, अन्य की नहीं है, इसप्रकार प्राप्ताण्य के विस्तार को कैसे प्राप्त होगी ?

इसप्रकार इन्द्रियवृत्ति प्राप्ताण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान से व्यवहित है । जो जिस से व्यवहित [अविरुद्ध] होता है, वह वहाँ प्रमाण नहीं होता, जैसे- कुलहाड़ी के द्वारा व्यवहित लुहार इसलिए ज्ञान से व्यवहित इन्द्रियवृत्ति अर्थप्रमिति में कारण नहीं है ।

भावार्थ- इन्द्रियों की वृत्ति या प्रवृत्ति इन्द्रियवृत्ति कहलाती है । वह इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है कि अधिन है ? यदि आप इन्द्रियवृत्ति को इन्द्रियों से भिन्न मानते हैं तो वह वृत्ति इन्द्रियों की कैसी मानी जा सकती है ? इस से तो स्वरूपोप्लब्ध हो जायेगा । इन्द्रियों की वृत्ति को उस से भिन्न मानने पर यह वृत्ति इन्द्रियों की ही है । अन्य की नहीं है, ऐसा निर्णय नहीं हो पायेगा । निश्चयाभाव का ही अपर नाम संशय है । किसी भी पत में संशय प्रमाण नहीं माना गया है, अतः इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है, ऐसा मतना अनर्थोत्पादक है ।

वह इन्द्रियवृत्ति इन्द्रियों से अधिन भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर या तो इन्द्रियों रहेगी या उन की वृत्ति । अभेद में दो का रहना असंभव है, ऐसे समव में इन्द्रियवृत्ति कहना, अनुचित ठहरता है ।

किसी प्रकार इन्द्रियवृत्ति स्वीकार कर भी ली जावें, तो वह प्रमाण नहीं हो सकती है, क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा बाधा को प्राप्त होती है । यह नियम है कि जो जिस के द्वारा अविरुद्ध होता है, वह वहाँ प्रमाण नहीं होता । अतः ज्ञान से अविरुद्ध इन्द्रियवृत्ति अर्थप्रमिति की साक्षात् कारण नहीं है ।



6. **अथेदमुच्यते-** कथपर्यायरिच्छित्तौ साक्षात्ज्ञानस्य साधकतमत्वम्, येनेन्द्रियवृत्तेस्तेन व्यवहितत्वात् साधकतमत्वं नेष्यते । सत्यपेतदेव । एतम्भवताभ्युपगमत् । यच्चाभ्युपगमत्यपि न बुद्धयते, तत्र कोऽन्यो हेतुरन्यत्र महामोहात् ।

यदुक्तं भवतापि “इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति, इन्द्रियालोचितवर्थं महड्कारोऽभिमन्यते, अहड्कारापिवात्पर्थं बुद्धिरावधारयति, बुद्धयध्यवसितपर्थं पुरुषश्चेतयते ।”

तस्मानेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ।

अर्थ- अब यहाँ कहते हैं कि अर्थ की परिचिह्निति में ज्ञान का साधकतमत्व किस प्रकार है ? जिस से कि इन्द्रियवृत्ति ज्ञान से व्यवहित हो जाने के कारण साधकतम नहीं होती । यह सत्य ही है । इस सत्य को आपने भी माना है । जिस को मान कर भी नहीं जानते हो, उस में महामोह के अतिरिक्त दूसरा और कौनसा हेतु हो सकता है ?

आपने भी कहा है - इन्द्रियों अर्थ का आलोचन करती है, इन्द्रियों के द्वारा आलोचित अर्थ को अहंकार ग्रहण करता है, अहंकार के द्वारा अभिमत अर्थ को बुद्धि अवधारण [निश्चित्] करती है और बुद्धि के द्वारा अध्यवसित अर्थ को पुरुष जानता है ।

इसलिए इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है ।

भावार्थ- सांख्य दर्शनकारों का कथन है कि - “सर्वप्रथम इन्द्रियों पदार्थों का सर्वेक्षण करती है । जिस पदार्थ को इन्द्रियों के द्वारा आलोचित किया जाता है, उस को अहंकार ग्रहण करता है । जिस पदार्थ को अहंकार स्वीकार करता है, उस अर्थ को बुद्धि निश्चित् करती है और उस के पश्चात् बुद्धयाध्यवसित पदार्थ को पुरुष जानता है ।” उन के कथनानुसार भी इन्द्रियवृत्ति अर्थ परिचिह्निति का साक्षात् कारण नहीं है । इन्द्रियवृत्ति तो अहंकार का साधकतम प्रत्यय है ।

अपने द्वारा स्वीकृत विषय का भी विरोध करना, कदाग्रह के अतिरिक्त क्या हो सकता है ?

समास रूपेण यही कहा जा सकता है कि इन्द्रियों अचेतन हैं । अतः इन्द्रियों की वृत्ति भी अचेतन ही है । जो स्वयं अज्ञानरूप है, वह स्व पर

जी एवं परिच्छिति का साधकतम कैसे हो सकता है ? अतः इन्द्रियवृत्ति अर्थ जी परिच्छिति में साधकतम नहीं है ।

जैनाचार्यों ने इन्द्रियवृत्ति के प्रामाण्य का खण्डन करते हुए मूल्यातः तो आते कही हैं । यथा-

इन्द्रियवृत्ति यदि इन्द्रियों से भिन्न है, तो दोनों का सम्बन्ध बन नहीं सकता तथा अधिन है तो मन एवं सुखावस्था में भी इन्द्रिय व्यापार होना चाहिये ।

इन्द्रियों का पदार्थ के आकार होना प्रतीति से विपरीत है । जिसप्रकार इष्टण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, उसप्रकार श्रोत्रादिक इन्द्रियों पदार्थ के आकार को अपने में ग्रहण नहीं करती ।

अतः इन्द्रियवृत्ति प्रामाण्य से संयुक्त नहीं है ।



उत्थानिका- भट्टजयन्ताभिमतस्य कारकसाकल्यस्य प्रामाण्यनिरसः

अर्थ- भट्ट जयन्ताभिमत कारक साकल्य का प्रामाण्य निरसन-

7. नापि कारकसाकल्यम् तस्य स्वरूपेणीवासिद्वत्वात् । तत्स्वरूपं हि किं सकलान्येव कारकाणि, तद्भूमौ वा, तत्कार्यं वा, पदार्थान्तरं वा, गत्यन्तराभावात् ।

न तावदाद्यः, सकलानां कारकाणामेकत्रैकदा संभवाभावात् कथं साकल्यं नापः, तेषां धरस्यर विरोधात् 'साकल्यं हि नाम प्रमाणं, तेन च करणेन भवितव्यम् । यदा तस्य कर्तु-कर्मस्तपताऽङ्गीक्रियते तदा न करणत्वम् । करणात्वे वा न कर्तु-कर्मस्तपता, कर्तु-कर्म-करणानां सहावस्थानाभावात्, शीतोष्णावत् ।

अर्थ- कारक साकल्य भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उस का स्वरूप ही असिद्ध है । उस का स्वरूप क्या है ? सम्पूर्ण कारक अथवा उन का धर्म या उनका कार्य अथवा अन्य कोई पदार्थ ? इस के अतिरिक्त कोई विकल्प संभव नहीं है ।

इन में से प्रथम विकल्प को स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण कारकों का एक जगह और एक काल में एकत्र होना संभव नहीं होने से कारक साकल्य कैसे होगा ? उन का परस्पर में विरोध होने से । साकल्य यदि प्रमाण है, तो उस को करण होना चाहिये । जब उस की कर्तृरूपता और कर्मरूपता स्वीकार की जाती है, तब उस में करणत्व नहीं होगा । यदि करणत्व होगा तो फिर कर्तृरूपता एवं कर्मरूपता नहीं होगी, क्योंकि कर्त्-कर्म-करणों का शीतोष्ण के समान सहानवस्थान का अभाव होता है ।

भावार्थ - कारक साकल्य प्रभाण नहीं है, क्योंकि वह स्वरूपसिद्ध है । कारक साकल्य का क्या स्वरूप है ? इस को 'उत्तर' भी 'धार' भी कहते हैं । वे चाहों ही विकल्प उस के स्वरूप को सिद्ध नहीं कर पाते ।

- मर्कप्रथम विकल्प है कि - "कारकों का समूह कारक साकल्य है ।" इस विकल्प में दो दोष हैं, जिन के कारण वह असिद्ध रह जाता है । यथा-
- 1- कारकों का परस्पर विरुद्धत्व होने से, वे एकजगह नहीं आ सकते । साकल्य आनि समुदाय । कारक साकल्य का अर्थ है- कारकों का समुदाय । जब कारक एक अभिन्न वस्तु में नहीं आ सकते, तो उन का साकल्य कैसे होगा ?
 - 2- यदि किसी तरह कारक साकल्य को कारकों का समूह मान भी लेवे, तो भी दूसरी बाधा यह उपस्थित होती है कि प्रमाण करण है अतः उस के लक्षण भूत कारक साकल्य में भी करणत्व आता है । जैसे सहानवस्था दोष के कारण शीत और उष्ण एक जगह नहीं रह सकते, उसी प्रकार करणत्व में कर्तृव्य और कर्मत्व नहीं हो सकता । कारक साकल्य करण है, उस में कर्तृत्व एवं कर्मत्व ये कारक नहीं हैं, तो फिर सकल कारकों का समुदाय कारक साकल्य है, ऐसा पक्ष सिद्ध कैसे होगा ?

अतः भट्ट जयन्त द्वारा अभिमत कारक साकल्य प्रमाण नहीं हो सकता ।

८. किं च, सकलान्येव कारकाणि तेषां भावः साकल्यं तदित्थं न संबोधवीति । तन्म सकलान्येव कारकाणि साकल्यम् ।

अर्थ- और क्या सम्पूर्ण कारकों का भाव साकल्य है ? वह यहाँ संभव नहीं है । इसलिए सम्पूर्ण कारकों का नाम साकल्य नहीं है ।

भावार्थ- भाव शब्द का अर्थ सत्ता या स्वरूप मात्र है । सम्पूर्ण कारकों की सत्ता भी साकल्य वा प्रमाण नहीं हो सकती, अज्ञान रूप होने से । सत्ता साक्षेकालिक है तथा उस के द्वारा होने वाला ज्ञान नात्कालिक है, अतः कारक सत्ता का साकल्य प्रमाण भावना, अनुचित है ।



९. नापि तद्धर्मः, स हि संयोगोऽन्यो वा । न तद्वत्संधोगः, तेषां तदसंभवात्, परस्परविहृद्वानामेकज्ञावस्थानाभावाच्छीतेष्यादीनामिव कश्च नाम संयोगः पुनादात्तद्वितीयः नाप्यन्यः, तस्य साकल्यरूपत्वेऽतिप्रसंगात् । व्यस्तार्थानामपि तत्संभवात् ।

किं आसौ कारके धर्मोऽव्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा । यद्यव्यतिरिक्तस्तदा धर्मपात्रम्, कारकमात्रं वा स्यात् । व्यतिरिक्तश्चेत् सञ्चयन्नामिद्धिः । व्यतिरिक्ते सति यथा कारकः सह संबध्यते तथा पदार्थान्तरैः सह सम्बन्धः कर्त्त न स्यात् । तस्यात्सम्बन्धासम्भावात् कर्त्त नाम कारकाणां धर्मः प्रमाणम् । ततश्च न धर्मोऽपि साकल्यम् ।

अर्थ- सकल कारकों के धर्म का नाम कारक साकल्य नहीं है । वह धर्म संयोग रूप है या अन्यरूप ? वह धर्म संयोग रूप नहीं हो सकता, उस का संयोग संभव न होने से । परस्पर विहृद पदार्थों का एक जगह अवस्थान शीतोष्ण के समान असंभव होने से, वह संयोग प्रमाणता को प्राप्त कैसे होगा ?

वह धर्म संयोग से अन्यरूप भी नहीं है । उस को साकल्यरूप मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है । अन्य को साकल्य रूप मानने पर गृथक पदार्थों में भी साकल्यरूपत्व को संभव मानना पड़ेगा ।

क्या यह धर्म कारकों से अव्यतिरिक्त है कि व्यतिरिक्त ? याद वह अव्यतिरिक्त है, तो वह धर्मभाव होगा। अथवा कारकभाव होगा। वह धर्म व्यतिरिक्त है, ऐसा कहते हो, तो सम्बन्ध की असिद्ध हो जायगी। धर्म की अतिरिक्त स्वीकार करने पर जिस प्रकार वह कारकों के माथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है, उसी प्रकार उम का दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध उसी नहीं होगा ? इसलिए सम्बन्ध की सम्भवता न होने से कारकों का धर्म प्रभाग कैसे हो सकता है ? अतः धर्म भी साकल्य नहीं है ।

भावार्थ - सम्पूर्ण कारकों का धर्म ही कारक साकल्य है, ऐसा कथन करने पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि -

वह धर्म संयोग रूप है ? या असंयोग रूप है ?

वह धर्म अव्यतिरिक्त रूप है ? या व्यतिरिक्त रूप है ?

वह धर्म मंयोग रूप नहीं हो सकता, क्योंकि कारकों के धर्म शीत और ऊष्ण के समान परस्पर विरुद्ध भी होते हैं - उन में सहानवस्था होती है अर्थात् परस्पर एक दूसरे के साथ नहीं रहे सकते, अतः संयोग शब्द असंभव होने से उस की प्रभाष्टा असिद्ध हो जाती है ।

वह धर्म संयोग से अतिरिक्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि उन का साकल्य हो नहीं सकता है । संयोग से अतिरिक्त का साकल्य स्वीकार करने पर अर्थात् अत्यन्त पृथक् पदार्थों में साकल्यता मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है ।

वह धर्म कारकों से अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि अव्यतिरिक्त परमे में [अभिन्नपरमे में] सरूपाणामेकशेषः के नियमानुसार कोई भी एक शेष रहेगा या तो धर्म रहेगा या कारक रहेगा । अतः कारकों का धर्म " इस प्रतिज्ञा की हानि होगी । यदि वह धर्म कारकों से पृथक् है, तो उन में सम्बन्ध नहीं हो सकता । सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं । स्वरूप सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध एवं संयोग सम्बन्ध ।

तात्पत्त्य सम्बन्ध को स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं - यह एक दब्य में ही

होता है— अतः धर्म का कारकों के साथ तादात्पर्य सम्बन्ध नहीं है ।

एक न होते हुए भी एकमेक ही चुके सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं । धर्म एवं कारकों का समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध में एकशोषत्व रहता है ।

संयोग सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य के द्रव्य के साथ ही संयोग हो सकता है, नैयायिकादि ने धर्म को गुण माना है । इस तरह सम्बन्ध की असिद्धि होती है ।

यदि माना जाये तो भी यह दृष्टण प्राप्त होता है कि जिस प्रकार वह कारकों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुआ है, उसीप्रकार वह अन्य पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध को प्राप्त होगा— यह अतिव्याप्ति दोष है । अतः कारकों का धर्म भी प्रमाण नहीं हो सकता ।



10. नायि तत्कार्यम् तत्कार्यत्वस्यासम्बन्धवात् । तदसम्भवश्च तेषां नित्यत्वात् । कथमेवमिति चेत्, नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकस्वभावत्वे च सर्वदा तदुत्पत्ति प्रसंगात् । अतत्वभावत्वे च न क्वचिलकदाचित्कर्थचिदपि तेभ्यः साकल्यलक्षणकार्योत्पत्तिः स्यात् ।

अथेदपुच्यते — नित्यत्वे तत्कार्यकरणैकस्वभावत्वे च सहकारिसम्बन्धपेक्षतया न तेभ्यः सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः इत्यधिगच्छन्नानो न निर्यलमना पनीषिभिरनुमन्यते, सहकारिणां नित्यं प्रत्यनुपकारित्वात् । उपकारित्वे शाश्वतेभ्यस्तैभिन्नः क्रियते, अभिन्नो वा । भिन्नस्य करणे तेषां न किञ्चिदपि कृतं स्यात् । घटस्य करणे पटस्य किमायातप् । नायिभिन्नः, अभेदे तान्येव कृतानि भवेयुः, कर्थं तेषां नित्यता स्यात् । ततश्च तत्कार्यमपि साकल्यं न प्रमाणतामियात् ।

अर्थ — कारकों का कार्य भी साकल्य नहीं है, कारकों का कार्यत्व असंभव होने से । कारक नित्य होने से वे कार्य नहीं कर सकते हैं । किस

प्रकार ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि नित्यत्व में उस के कार्य और कारण का एक स्वभाव होने से कार्य की सर्वदा उत्पत्ति का प्रसंग आता है। यदि ऐसा स्वभाव नहीं है तो कहीं पर, कभी भी, किसी प्रकार भी उस में साकल्य लक्षण कार्योत्पत्ति नहीं होगी।

अब यहाँ कहते हैं कि - नित्यत्व में कारण और कार्य के एक स्वभाव होने पर सहकारी कारणों की अपेक्षा होने से सर्वदा कार्योत्पत्ति का प्रसंग नहीं आयेगा, ऐसा मानने वाले को मनोवैज्ञानिक नहीं मानते, क्योंकि सहकारी कारण नित्यत्व के प्रति कभी उपकार नहीं करते। यदि उपकार करते हैं, तो नित्य से भिन्न उपकार करते हैं कि अभिन्न उपकार करते हैं ? यदि भिन्न उपकार करते हैं, तो नित्य का उपकार नहीं किया है। घट के करने से घट में क्या आ गया ? अभिन्न उपकार भी नहीं करते, क्योंकि अभेद के द्वारा उस में कुछ कर देने से, नित्यता कैसे होगी ?

इसलिए कारकों का कार्य भी साकल्य रूप प्रमाणता को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ - कारकों का कार्यत्व ही असंभव होने से कारकों का कार्य भी साकल्य नहीं है। कारक नित्य होते हैं और जो नित्य होते हैं, उन में क्रिया नहीं हो सकती, फिर कारकों का कार्य कारक साकल्य कैसे हो सकता है ?

यदि आप नित्यत्व में भी कार्य स्वीकार करते हैं, तो कार्य और कारण का एक स्वभाव हो जाने के कारण कार्य सदैव ही उत्पन्न होते रहना चाहिये।

यदि सर्वदा कार्योत्पत्ति को अस्वीकार करने हेतु आप कार्य-कारण का एक स्वभाव नहीं मानते हैं, तो कहीं भी, कभी भी, किसी प्रकार भी कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, फिर “कारकों का कार्य कारक साकल्य है” यह पक्ष सिद्ध कैसे होगा ?

जबकि भट्ट कहता है कि नित्य में सर्वदा कार्योत्पत्ति महसूस उचित नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण का एक स्वभाव होने पर भी नित्यत्व में तत्वतक कार्य नहीं होता, जबतक कि सहयोगी कारण न मिले।

आचार्य देव कहते हैं कि इस प्रकार जो कोरी कल्पना करते हैं, उनको मनीषी निर्मलमना नहीं मानते हैं।

सहकारी कारण नित्य का उपकार कभी भी नहीं कर सकते। यदि उपकार करते हैं, तो बताओ वह उपकार नित्य से भिन्न करता है कि अधिन ?

यदि उपकार भिन्न रूप से करता है, तो उस ने नित्य में कुछ परिवर्तन किया ही नहीं क्योंकि घट में उपकार करने से घट के प्रति क्या कार्य हुआ ? फिर नित्य के प्रति उपकार न होने से कार्य कभी भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि आप को मतानुसार नित्य में किया तभी होती है, जब सहकारी कारणों का संयोग प्राप्त हो।

यदि उपकार नित्य से अभिन्न उपकार करता है, तो नित्यत्व का विनाश हो जायेगा, क्योंकि नित्य अपरिवर्तनशील होता है, परिवर्तन मानने पर नित्यत्व को सिद्ध नहीं हो सकती।

अतः कारकों का कार्य भी कारक साकल्य नहीं है।



11 नापि पदार्थान्तरम्, सर्वेषामपि पदार्थान्तराणां साकल्यं प्रसंगात् ।
तथा च सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वार्थोघलञ्चित्प्रसंगेन सर्वदा
पदार्थान्तरसाकल्यं स्यात् । कारकाणां हि साकल्यं कारकसाकल्यं,
तच्च पदार्थान्तरम् सर्वेषामपि पदार्थान्तर [राणां] साकल्ये कथं नाम
कारक साकल्यं भवितुपर्हति । पदार्थान्तरसाकल्यमित्येवं स्यात्,
कारकसाकल्यमित्येतदुभ्यताभावितमेव स्यात् ।

अर्थ - अन्य कोई दूसरा पदार्थ भी साकल्य नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थान्तर साकल्यपने को प्राप्त हो जायेंगे । उस से सर्वत्र, सर्वदा,

सम्पूर्ण अर्थों की उपलब्धि के प्रसंग से हमेशा पदार्थन्तर साकल्य होगा। कारकों का साकल्य कारक साकल्य है और वह पदार्थन्तर है। सभी पदार्थों का साकल्य कारक साकल्य कैसे कहलायेगा? पदार्थन्तर साकल्य को कारक साकल्य कहना, उन्मत्त के भाषण करने के समान है।

भावार्थ - कारक साकल्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर चार विकल्पों में हो सकता था। यथा-

- A - सम्पूर्ण कारक कारकसाकल्य है।
- B - कारकों का धर्म कारकसाकल्य है।
- C - कारकों का कार्य कारकसाकल्य है।
- D - इन तीनों के अतिरिक्त पदार्थ कारक साकल्य है।

प्रथम तीन विकल्पों का निरकरण यूं भै किया जा सुका है। अब प्रसंग प्राप्त चतुर्थ विकल्प का खण्डन किया जा रहा है।

सम्पूर्ण कारक, उन का धर्म व उन के कार्य इन से अतिरिक्त अनन्त पदार्थ सदा-सर्वदा जगत् में विराजमान हैं। यदि उन्हें कारक साकल्य कहा जावे, तो हमेशा ही पदार्थन्तर साकल्य होगा। सृष्टि में जो अनन्त पदार्थ हैं, उनमें से अनेकों पदार्थ शीत उष्ण के समान एक साथ नहीं रह सकते, अतः उन का साकल्य नहीं हो सकता। अनन्त पदार्थ सतत होते हैं, परन्तु उन के हारा सतत प्रमाणोत्पत्ति [ज्ञानोत्पत्ति] नहीं हो रही है, अतः पदार्थन्तरों का साकल्य, कारक साकल्य है एवं वह प्रमाण है, ऐसा कथन उन्मत्त पुरुष के कथन के समान वचन का विलासमात्र है।



12 किं च, कारकेभ्यः पदार्थन्तरं साकल्यम्, तत्किं ज्ञानमन्यद्वा । आहो, ज्ञानमेव प्रमाणं नायान्तरेणोक्तं स्यात् । अन्यज्ञेत्, तत्प्रागेवातिप्रसंगेन निरस्तं चोद्दृव्यम् । तत्त्वं कारकसाकल्यं प्रमाणम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धत्वात्, सिद्धौ वा, ज्ञानेन व्यवहितत्वात् न प्रमाणमिति ।

अर्थ - और क्या, कारकों से पदार्थों का जो साकल्य है, वह ज्ञान है या अन्य है? आज् यह में ज्ञान ही प्रमाण होने से आप का कथन मात्र नामधेद बाला ही है। यदि वह साकल्य ज्ञान से अन्य है, तो फहले ही अति प्रसंग के द्वारा उस का निरसन किया गया है। इसलिए कारक साकल्य प्रमाण नहीं है, उस के स्वरूप की असिद्धि होने से। यदि वह किसी तरह सिद्ध भी है, तो भी वह ज्ञान से व्यक्तित्व होने के कारण प्रमाण नहीं है।

भावार्थ - कारकों से पदार्थों का जो साकल्य है वह या तो ज्ञान रूप होना चाहिये या अन्य रूप। यदि ज्ञानरूप है, ऐसा कहते हो, तो परमत सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि जैसे ज्ञान को प्रमाण मानते हैं एवं आप केवल नामान्तर से ही कथन कर रहे हैं अन्य कोई भेद नहीं है।

यदि कारक साकल्यबादी उस साकल्य को अज्ञानरूप मानते हैं, तो असि प्रसंग नामक दोष आता है। व्यर्थ का विस्तार करना अर्थात् अतिव्याप्ति दोष को अतिप्रसंग कहते हैं। यदि कारक साकल्य अज्ञान रूप है तो वह घट-पट आदि जड़ पदार्थों की तरह स्व और पर फरिच्छति में साधकतम नहीं हो सकता। जो प्रमिति का करण है, वह प्रमाण है। करण नियमतः साधकतम होता है। प्रमिति में साधकतम नहीं होने से व कारक साकल्य के स्वरूप की असिद्धि होने से कारक साकल्य प्रमाण नहीं हो सकता।

यदि किसी तरह से उस के स्वरूप की सिद्धि भी हो जाये, तो भी वह ज्ञान के द्वारा वाचित होने से उपचार कृत प्रमाण हो सकता है, परन्तु साक्षात् प्रमाण नहीं हो सकता।



उत्थानिका - यौगाभिमतस्य सन्निकर्षस्य प्रापाण्यनिरासः

अर्थ - यौगाभिमत सन्निकर्ष के प्रापाण्य का निरसन -

१३ नापि सन्निकर्षः प्रमाणम्, तस्याप्यद्यभिचारादि
विशेषणविशिष्टार्थप्रभितावसाधकतपत्वात्। अर्थप्रभितावसाधकतपत्वं
च स्वप्रभितावसाधकतपत्वे न सिद्धम्।

तथाहि-न सन्निकर्षोऽर्थप्रभितौ साधकतमः, स्वप्रभितावसाध
कतपत्वात्, घटवत्। न ह्येतनोऽर्थः स्व-प्रभितौ करणम्, तद्वत्।
तस्मान् सन्निकर्षः प्रमाणप्रमेयत्रोपचारात्, प्रदीपदिवत्। यथा प्रदीपादीना
करणत्वमुपचारात् तथा सन्निकर्षस्थापि।

अर्थ- सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह भी अव्याभिचारादि
विशेषण विशिष्ट अर्थप्रभिति में असाधकतम है। स्व-प्रभिति में असाधकतम
होने से वह अर्थप्रभिति में भी असाधकतम है।

वह इस प्रकार है-सन्निकर्ष अर्थप्रभिति में साधकतम नहीं है, घट के समान
स्व- प्रभिति में असाधकतम होने से। अबेतन पदार्थ स्वप्रभिति में घट के
समान करण नहीं होता। प्रदीपादि के समान उपचार प्रमाण को छोड़ कर
सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता। जैसे प्रदीपादिक उपचार से करण है, उसी
प्रकार सन्निकर्ष भी उपचार से करण है।

भावार्थ- नैयायिक दर्शनिकार सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं, परन्तु उन का
मत समीचीन नहीं है। वस्तु का ज्ञान कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं है।
जिस के होने पर ज्ञान हो और जिस के नहीं होने पर ज्ञान न हो, उस
प्रत्यय को साधकतम कहते हैं। सन्निकर्ष में यह बात नहीं पायी जाती।

कहीं कहीं सन्निकर्ष के होते हुए भी ज्ञान नहीं होता है। जैसे-जब घट को
देखा जाता है, तब घट के साथ आकाशादि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष
होता है। फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। इस से सिद्ध होता है कि
सन्निकर्ष ज्ञान में साधकतम नहीं है। और जो साधकतम नहीं हो, वह
प्रमाण भी नहीं होता।

जैसे दीपक का प्रकाश आदि उपचार से प्रमाण की श्रेणी को प्राप्त होते हैं,
उसी प्रकार सन्निकर्ष उचार से प्रमाण हो सकता है, मुख्य प्रमाण नहीं।

14. किं च, अग्राप्यातेष्वाभिदाधसभवेन सन्निकर्षः प्रमाणम् इति
लक्षणं नाक्षणमुपलभ्यते परीक्षादक्षैः।

तथा हि-यथा चक्षुषा संयुक्ते घटे संयोगाद् घटज्ञानम्, संयुक्त समवाचाद्
रूपज्ञानम्, संयुक्तसमवेत्समवाचाद् रूपत्वज्ञानम् [इति] संयोग-संयुक्त
समवाच-संयुक्तसमवेत्समवाच सम्बन्धत्रयवशाद् घट-
रूप-रूपत्व-ज्ञानपुरीक्रियते भवता तथा घट-रस-रसत्व ज्ञानपञ्चुरी
क्रियताम्, सम्बन्धत्रयस्य तत्रापि सत्त्वात्, इत्यत्याप्तिः।

सन्निकर्षस्याज्ञानरूपस्य प्राप्याण्ये घटादिप्रमेयार्थस्यापि प्राप्याण्ये ग्रसंग
इत्यतिव्याप्तिः।

सन्निकर्षस्याज्ञानरूपस्य प्राप्याण्ये घटादिप्रमेयार्थस्यापि प्राप्याण्यप्रसंग
इत्यतिव्याप्तिः।

तथा चाव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषाभ्यां सन्निकर्षस्य
प्रपाणत्वासंभवेनासंभवदोषदृष्टत्वेन च तस्य प्राप्याण्यं मन्यमानो न
निर्वलमना मनीषिभिरनुपन्थ्यते।

ततः कथं सन्निकर्षः प्रमाणं नाम।

अथ साक्षादर्थप्रमिती साधकतमस्य ज्ञानस्योत्पादकत्वेन सन्निकर्षः
प्रपाणम् तर्हुपचारारात्रापाण्यपित्याचातं तस्य। पुख्यतस्तु ज्ञानस्यैक
प्राप्याण्यम्, तच्च भवतामनभ्युपगमादेव न प्रपाणतां याति। परमतप्रसंगशब्दः।

अर्थ- किं च, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों को सम्भवता से सन्निकर्षः प्रपाणम् यह लक्षण परीक्षादक्षों के द्वारा निर्दोष नहीं माना गया है।

तथाहि, जैसे चक्षु के द्वारा संयुक्त घट में संयोग से घटज्ञन होता है।
संयुक्त-समवाच से रूप ज्ञान होता है तथा संयुक्त-समवेत्-समवाच से
रूपत्व का ज्ञान होता है। संयोग, संयुक्त-समवाच तथा संयुक्त-समवेत्-समवाच
इन सम्बन्धत्रय के बश से घट-रूप और रूपत्व का ज्ञान भी आप के द्वारा
स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार घट-रस और रसत्व का ज्ञान भी

स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी तीनों सम्बन्धों का सत्त्व है। अतः यह अव्याप्ति दोष है।

अज्ञान रूप सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर घटादि प्रमाणार्थ का भी प्राप्ताण्य प्रसंग आयेगा, यह अतिव्याप्ति है।

अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों के द्वारा सन्निकर्ष को प्रमाणत्व संभव नहीं होने से असंभव दोष भी आता है। अतः जो सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं, उन को मरीची निर्वलमना नहीं मानते।

जैन- वह सन्निकर्ष प्रमाण कैसे है ?

खौग- साक्षात् अर्थप्रमिति में साधकतम ज्ञान का उत्पादक होने से सन्निकर्ष प्रमाण है।

जैन- तब तो यह सन्निकर्ष उपचार से प्राप्त हुआ। मुख्यतः ज्ञान ही प्रमाण है। उस ज्ञान को आप के मत में प्रमाण नहीं माना है, अतः परमत का प्रसंग आ जायेगा।

भावार्थ- अव्याप्ति-अतिव्याप्ति एवं असंभव ये तीन दोष जिस लक्षण में पाये जाते हैं, उसे लक्षणभास कहते हैं। सन्निकर्ष को प्रमाण का लक्षण मानने पर वे तीनों ही दोष प्राप्त होते हैं।

अव्याप्ति दोष - लक्ष्य के एकदेश में लक्षण को रहने को अव्याप्ति कहते हैं। रूप की भाँति रस के साथ चक्षुः संयुक्त-समवाय और रूपत्व की तरह रसत्व के साथ चक्षुः संयुक्त-समवेत समवाय-सन्निकर्ष का अस्तित्व होते हुए भी चक्षु के द्वारा रस की एवं रसत्व की प्रमिति नहीं होती अथवा चक्षु सन्निकर्ष को विना भी अग्नि आदि पदार्थों का ज्ञान करती है- यह अव्याप्ति दोष है।

अतिव्याप्ति दोष - जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य में व्याप कर के खड़े रहता है, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। सन्निकर्ष अज्ञान रूप है। अज्ञान लक्षण घट पटादि जड़ पदार्थों में भी पाया जाता है, अतः सन्निकर्ष लक्ष्य एवं

धटफटादि द्रव्य अलक्ष्य है। अज्ञान रूप लक्षण दोनों में ही पाया जा रहा है, अतः यह अतिव्याप्ति दोष है।

असंभव दोष - लक्ष्य में लक्षण का न पाया जाना, असंभव है। सन्निकर्ष में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष आने से उस का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, अतः वह असंभव दोष युक्त है, अथवा अचेतन सन्निकर्ष चेतनात्मक अज्ञाननिवृत्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता, यह असंभव दोष है।

अतः सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

यौग मतान्वलम्बियों से जैनाचार्यों का प्रश्न है कि "आप लोग सन्निकर्ष को प्रमाण किस प्रकार कहते हों?"

यौग - क्योंकि वह साक्षात् अर्थप्रभिति में साधकतम जो ज्ञान है, उस को उत्पन्न करनेवाला होता है।

जैवाचार्य समझाते हैं कि आप स्वयं ही स्वेकार करते हैं कि अर्थ की प्रभिति में साधकतम ज्ञान है न कि सन्निकर्ष। फिर सन्निकर्ष प्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि प्रभिति में जो साधकतम है, वह प्रमाण है।

ज्ञान प्रभिति में साधकतम है एवं उस का उत्पादक सन्निकर्ष है, ऐसा मानने पर सन्निकर्ष परम्य ज्ञानि उपचार से ही प्रमाण है, ऐसा सिद्ध होता है।



15 कि च, ज्ञानस्य प्रापाण्ये सन्निकर्षस्य, निष्कलत्वादप्रापाण्यम्, प्रपाणेन फलवता भवितव्यम्, निष्कलस्याप्रभाणत्वात्। ततो न सन्निकर्षः प्रमाणम्, ज्ञानेन व्यवहितत्वात्।

अर्थ - और उस ज्ञाने का प्रापाण्य है, सन्निकर्ष का निष्कल होने से अप्रापाण्य है। प्रमाण को फलवान् होना चाहिये। निष्कल प्रमाण नहीं होता, इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, ज्ञान के द्वारा व्यवहित होने से।

भावात् - पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि सन्निकर्ष को प्रमाण का लक्षण मानना, लक्षणाभास है, क्योंकि उस में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति और असंभवी ये तीनों ही दोष हैं।

इस के अतिरिक्त अनेक दोष सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर उपस्थित होते हैं।

- जैसे - 1. जिस के होने पर ज्ञान होवें और नहीं होने पर न होवें, उसे साधकतम कहते हैं, वस्तु का व्योध कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं है।
2. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ की असिद्धि होगी, क्योंकि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को सन्निकर्ष के द्वारा जानेगा, तो उस का ज्ञान या तो इन्द्रियज्ञ्य होगा या मानसिक।
3. सूक्ष्म-अन्तरित और व्यवहित पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं होता, अतः उन का ज्ञान नहीं हो सकेगा, इत्यादि।
- अतः सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।



उत्थानिका - पराभिपतं ज्ञातुव्याघारादिकं प्रमाणस्वरूपं समालोच्याद्युना स्वमतेन स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानस्यैव प्रमाणत्वम् इति निरूपयति-

अर्थ - पराभिपत ज्ञातुव्याघारादि के प्रमाण स्वरूपों की समालोचना कर के अब स्व-भत्त से स्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, ऐसा निरूपण करते हैं-

16. साक्षादर्थप्रभितीं ज्ञानमेव प्रमाणम्, तस्यैव साधकतमत्वात्। तदपि स्वार्थ-व्यवसायात्मकमेव। तथा च प्रयोगः-प्रमाणं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्बन्धज्ञानमेव, प्रमाणत्वान्यथानुघपत्तेः। यत् च सम्बन्धज्ञानं स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वं प्रमाणम्, यथा संशब्दादिर्धटादिश्च, प्रमाणं [च] विवादापनम्, तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमेव [प्रमाण] भवितुमहेति।

अर्थ - साक्षात् अर्थ प्रभिति में ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि अर्थ प्रभिति में वही साधकतम है। वह ज्ञान भी स्वार्थ-व्यवसायात्मक ही है और उस का

प्रयोग इस प्रकार है। प्रमाण स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यज्ञान होता है, क्योंकि प्रमाण की अन्यथा उपपत्ति नहीं होती। जो स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यज्ञान नहीं है, वह प्रमाण नहीं है, जैसे—संशयदि तथा घटादि। प्रमाण विवाद का विषय है। इसलिए स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाणत्व को प्राप्त होता है।

भावार्थ - अर्थप्रमिति के होने में वह प्रकार के कारण प्रयुक्त होते हैं। इन्द्रिय-मन-पदार्थादि अर्थ प्रमिति में सहायक कारण हैं। आत्मा उन पदार्थों को ज्ञान के द्वारा ही आनता है, अतः अर्थ की प्रमिति में ज्ञान साक्षात् कारण है। प्रमाता के द्वारा प्रमितिकरण कराना, प्रमाण का कार्य है। अतः सम्यज्ञान ही प्रमाण है, प्रमिति में साक्षात् कारण होने से।

यदि सम्यज्ञान के व्यतिरिक्त पदार्थों को प्रमाण माना जायेगा, तो ज्ञान की रहितता होने से प्रमाण अज्ञान रूप हो जायेगा। इस स्थिति में घटादि जड़ वस्तुओं में भी प्रमाणत्व का प्रसंग आ जायेगा। अतः सम्यज्ञान ही प्रमाण है।

वह सम्यज्ञान भी स्वार्थ-व्यवसायात्मक होता है अर्थात् सम्यज्ञान स्व और पर द्रव्य को जाननेवाला है। जो स्वार्थ-व्यवसायात्मक नहीं है, वह सम्यज्ञान व प्रमाण नहीं है, जैसे—संशय। संशय न स्व व्यवसायात्मक होता है और न अर्थ व्यवसायात्मक होता है। अतः वह प्रमाण नहीं होता।



17. अथ प्रतिज्ञार्थीकदेशासिद्धत्वाद्देतोः प्रमाणत्वस्य न प्रकृतसाध्यं प्रति न गमकत्वम् इति भतिः, साधि स्वविकल्पकल्पनाशिल्पकल्पितैव, प्रतिज्ञार्थीकदेशासिद्धत्वस्य दोषभास्त्वात्। का पुनः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो वा। धर्मिधर्मसमुदायः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो धर्मो धर्मी वा स्यात्। न तावच्छर्पः, तस्य सर्वात्मनैवासिद्धत्वात्कथमेकदेशासिद्धत्वम्। धर्मी चेत्, तदपि न साधीयः, तस्य पक्षप्रथोगकालवद्देत् प्रथोगकालेऽपि सिद्धत्वात्कथमसिद्धत्वं नाम। इति न प्रतिज्ञार्थीकदेशासिद्धत्वम्।

अर्थ - प्रतिज्ञा के एकदेश असिद्ध हेतु है। प्रमाण प्रकृत साध्य के प्रति गमकत्व नहीं है। ऐसी जिस की भति है, वह भति भी शिल्पी के समान

स्थविकल्पों से कठिनता है, क्योंकि प्रतिज्ञार्थ का एकदेश असिद्धत्व का तात्पराभास ही है।

वह प्रतिज्ञा क्या है? उस का एकदेश क्या है? धर्मी और धर्म का समुदाय प्रतिज्ञा है। वह प्रतिज्ञार्थ का एकदेश धर्म है कि धर्मी है? प्रतिज्ञार्थ का एकदेश धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वात्मना असिद्ध होने से एकदेश असिद्ध कैसे होगा? यदि प्रतिज्ञार्थ का एकदेश धर्मी है—ऐसा कहते हो, तो भी वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पक्ष प्रयोग कालकृत् हेतुकाल में भी सिद्ध होने से वह असिद्ध कैसे है? इसलिए प्रमाण प्रतिज्ञार्थ के एकदेश में असिद्ध नहीं है।

भावार्थ - प्रमाण के विविध लक्षणों की मीमांसा करने के उपरान्त “स्व-पर व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है” क्योंकि वही साधकतम् एवं निहेतुता में युक्त है ऐसा निर्धारित किया गया। ‘इम लक्षण शो भी प्रज्ञवाची निर्दोष नहीं मानते’ उन का कथन है कि प्रमाण प्रकृत साध्य के प्रति गमक नहीं है। अतः प्रतिज्ञार्थ एकदेश असिद्ध नामक हेत्वाभास से दूषित नहीं है।

धर्म और धर्मी का समुदाय प्रतिज्ञा है। धर्म या धर्मी उस प्रतिज्ञा के एकदेश हैं। उस का असिद्धत्व प्रतिज्ञार्थ एकदेश असिद्ध नामक हेत्वाभास है।

आचार्य देव समाधान करते हैं कि, “स्व-पर व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है” इस लक्षण में आपके द्वारा कथित दोष नहीं आता है।

प्रतिज्ञार्थ का एकदेश जो असिद्ध है, वह धर्म हो नहीं सकता, क्योंकि धर्म साध्य है और साध्य नियमतः सर्वात्मना असिद्ध है। जो सर्वात्मना असिद्ध हो, वह एकदेश असिद्ध कैसे हो सकता है?

प्रतिज्ञार्थ का एकदेश जो असिद्ध है, वह धर्मी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस की सिद्ध पक्ष प्रयोग काल के समान हो हेतु काल में भी सिद्ध है। जो स्वतः सिद्ध है वह असिद्ध कैसे हो सकता है?

अतः प्रमाण प्रतिज्ञार्थ के एकदेश में असिद्ध नहीं है।

18. अर्थार्थज्ञानं प्रमाणं चेत्, तस्य किं फलम्। प्रमाणेन फलवत्ता भवितव्यम्, इत्यनालोचितवच्चनं नैयायिकानाम्। तत्फलं हि साक्षादज्ञाननिवृत्तिः। परम्परया तु हानोपादानोपेक्षास्वरूप ज्ञाविद्वदज्ञान-प्रसिद्धं कथं हन्त हन्तुं शक्यते। अन्यदुव्यते-यदञ्ज्ञानं तज्ञार्थजन्यमध्युपगम्यते किन्तु स्व-सामग्रीत उत्पद्य अर्थग्राहकत्वेनार्थज्ञानमित्याभिधीयते। तथा च सति ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थपरिच्छित्तिस्तु फलं, तत् कथं निष्फलं नाम।

अर्थ - यदि अर्थज्ञान प्रमाण है, तो उस का फल क्या है? प्रमाण का फलवान् होना चाहिये- यह नैयायिकों के अनालोचित [किना विचार कहे गये] बख्त हैं। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है तथा परम्परा फल हान-उपादान-उपेक्षा स्वरूप है, यह बात विद्वानों से ले कर स्त्रियों तक में प्रसिद्ध है। यहां है कि आप समझ ही नहीं पायें।

और भी कहते हैं- वह जो अर्थज्ञान है, उसे अर्थजन्य नहीं मानते, किन्तु स्व सामग्री से उत्पन्न हो कर अर्थग्राहकत्व होने से अर्थज्ञान कहा जाता है। ऐसा होने से ज्ञान प्रमाण तथा अर्थ की परिच्छिति उस का फल है। फिर वह निष्फल कैसे है?

भावार्थ - साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से प्रमाण-फल दो प्रकार का है। वस्तु के जानने के काल में ही जो फल प्राप्त होता है, वह साक्षात् फल है। प्रमाण के द्वारा किसी अज्ञात वस्तु को जानने पर तत्पर्यन्वित अज्ञान तत्काल दूर हो जाता है, यह प्रमाण का साक्षात् फल है।

वस्तु को जान लेने के उपरान्त परम्परा से जो फल प्राप्त होता है, वह पारम्पर्य फल है यह तीन प्रकार का है, हान-उपादान और उपेक्षा। ज्ञान होने पर अनिष्ट वस्तु के परिहार करने को हान कहते हैं। इष्ट वस्तु के ग्रहण करने को उपादान कहते हैं। इष्ट और अनिष्ट की कल्पना राग-द्वेष जनीत होती है। जब राग द्वेष से राहत अवश्या की उपर्याति होती है, तब हेय-उपादेय की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु माध्यरूप भाव उत्पन्न होता

है, इसी को उपेक्षा कहते हैं। ये तीनों प्रमाण के पारम्पर्य फल हैं।

कुछ बादी ज्ञान को अर्थजन्य मानते हैं, परन्तु वह उचित नहीं है। ज्ञान आत्मा का गुण है, जो ज्ञानावरण कर्म से आवृत्त है। जब ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अथवा क्षय होता है, तब वह प्रगट होता है। जब ज्ञान को अर्थग्राहक मानते हैं, तब ज्ञान प्रमाण और अर्थ की परिच्छिति अर्थात् अर्थ का प्रहण उस का फल है, यह सिद्ध होता है।

सारांश यह है कि ज्ञान को प्रमाण मानने पर उस का फल क्या है? ऐसा मुळने वाले नैयायिकों के यहाँ प्रमाण-फल का लोध कराया गया है।



19. अथेदमुच्यते-यद्यर्थज्ञानमर्थजन्यं न भवति तदा कथं प्रतिनियतार्थं प्रकाशकत्वम्, तदपि न धीमद्वितिकरम् तस्य योग्यतावशादेव तथा सिद्धत्वात्। तथा चोक्तम्-

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणायोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति [परीक्षामुख 2/9]

ततः सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणत्वस्य तस्यदोपपत्तेः। तदपि स्वार्थव्यवसायात्मक विशेषणविशिष्टमेव, न तु ज्ञानमात्रं किञ्चिद्व्यवसायात्मकं वा, मिथ्यज्ञानस्यापि ग्रामाण्यप्रसंगात्।

अर्थ - अब यहाँ कहते हैं कि— अर्थज्ञान अर्थजन्य नहीं होता है, तब वह प्रतिनियत अर्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है? यह भी धीमानों का धृतिकर नहीं है। ज्ञान की योग्यता से ही उस प्रकार सिद्ध है। कहा भी है—

अपने आवरण के क्षयोपशम रूप योग्यता के द्वारा ज्ञान प्रतिनियत विषय की व्यवस्था करता है।

इसलिए सम्यग्ज्ञान प्रभाण है, व्याख्योंकि प्रमाण की उपपत्ति ऐसी ही होती है। वह प्रमाण भी स्वार्थव्यवसायात्मक विशेषण है। ज्ञानमात्र अथवा व्यवसायात्मक रूप में नहीं है। अन्यथा मिथ्यज्ञान को भी प्रमाणत्व का प्रसंग आ जायेगा।

भावाद्ये - कुछ मतावलम्बी अर्थज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है.. ऐसा मानते हैं। उन का तर्क है कि अर्थज्ञान यदि अर्थजन्य न हो तो वह प्रतिनियत अर्थ का प्रकाशक नहीं हो सकता, फिर उन भी वह भावता सभी दीन नहीं है।

ज्ञय को ग्रहण करना, ज्ञान का स्वभाव ही है। मृति-श्रुति-अवधि अथवा मनःपर्यय ज्ञान विषयक अवधरण के दूर होने पर अर्थात् क्षयोपशम होने पर अर्थवा क्षेवलज्ञानावरण कर्म का क्षय होने पर ज्ञान अर्थ को विषय करता है।

यदि क्षयोपशम या क्षय को कारण न मान कर अर्थे को ही ज्ञान का कारण माना गया, तो पदार्थ सब के लिए उपलब्ध होने से सभी को समान रूप से अर्थज्ञान होना चाहिये, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः अर्थज्ञान अर्थजन्य नहीं है।

संक्षिप्ततः: इतना ही ज्ञानना उचित है कि सम्प्लज्ञान ही प्रमाण है। वह भी स्वार्थ व्यवसायात्मक ही है। ऐसा न मान कर मात्र ज्ञानात्मक अर्थवा मात्र व्यवसायात्मक मानने पर ये दोनों लक्षण मिथ्यज्ञान में भी पाये जाने से मिथ्यज्ञान में भी प्रभाणत्व का प्रसंग आयेगा, जो कि अनुचित है, क्योंकि मिथ्यज्ञान को प्रमाण मानना, किसी भी मतावलम्बी को इष्ट नहीं है।



20. अथ स्वस्थे दने निद्रयमनो यो गिलक्षणाचतु विधस्वापि समक्षस्याव्यवसायात्मकत्वे उप्यविसंवादेन प्राप्ताण्योपत्ते: कथं व्यवसायात्मकमेव सर्वं ज्ञानं प्रमाणाम्, अनुभावस्थैव व्यवसायात्मकत्वेनाभ्युपगमात्, इति मतम्, तदप्यज्ञानविजृष्णितम्, प्रत्यक्षस्याव्यवसायात्मकत्वे उप्यविसंवादित्वासंभवात्। अविसंवादो हृष्टतयाभावं प्रकाशकत्वेनैव व्याप्तः। तस्मा व्यवसायात्मकत्वे सत्येव भवति। सदभावे उपि चेदर्थतयाभावं प्रकाशकत्वलक्षणं प्राप्ताधर्थं प्रमाणस्यापनीयद्यते तदा संशयादीनामपि प्राप्ताण्यं सिद्धिसौधशिखरं

समारूह्यते। ततो न किञ्चिदेतत्। प्रत्यक्षमनुमानं वा व्यवसायात्मकं सत्
प्रमाणं भवितुमर्हति।

अत्र प्रयोगः- ज्ञानं पदार्थं अशर्थवाक्यायात्मकमेव, समारोपविरुद्धत्वात्
अनुमानवत्, यत् न स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्र समारोपविरुद्धम्, यथा
संशयादिः, समारोपविरुद्धं चेदम्, तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकमेव।

अर्थ- अब, स्वसंवेदन-इन्द्रिय-मन और योगिलक्षण चार प्रकार का प्रत्यक्ष
अविसंवाद रूप से अव्यवसायात्मक होते हुए भी प्रमाण है, फिर आप
व्यवसायात्मक ही सर्वज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार क्यों कहते हो? अनुमान
को ही हमने व्यवसायात्मक माना है- ऐसा जिस का [बौद्धों का] मत है,
वह अज्ञान से भरा हुआ है। प्रत्यक्ष का अव्यवसायात्मकत्व अविसंवाद
युक्त हो, यह असंभव है। अविसंवाद से तात्पर्य अर्थ का तथाभाव
प्रकाशकत्व रूप से व्याप्त होना है। वह व्यवसायात्मक होने पर हो हो
सकता है। व्यवसायात्मकता के अभाव में यदि तथाभाव प्रकाशकत्व
लक्षणवाला प्रामाण्य प्रमाण मानना चाहते हैं, तो संशयादि भी प्रामाण्य के
सिद्धि भवन के शिखर पर आरूह होते हैं। इसन्ति एंमा कुछ नहीं है।
प्रत्यक्ष या अनुमान व्यवसायात्मक ढांने पर ही प्रमाण कहलाने योग्य हैं।

यहाँ प्रयोग है- स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है- समारोप से विरुद्ध
होने से, अनुमान के समान जो स्वार्थव्यवसायात्मक नहीं होता, वह समारोप
विरुद्ध भी नहीं होगा, जैसे-संशयादि। यह समारोप विरुद्ध है-अतः स्वार्थ
व्यवसायात्मक ही है।

आवार्थ- बौद्धों ने प्रत्यक्ष के चार भेद स्वीकार किये हैं- 1. स्वसंवेदन
प्रत्यक्ष, 2. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, 3. मन प्रत्यक्ष और 4. योगि-प्रत्यक्ष। इन चारों
को ही वे अव्यवसायात्मक मानते हैं। उस मत में प्रमाण के दो भेद हैं- प्रत्यक्ष एवं अनुमान-अनुमान प्रमाण व्यवसायात्मक होता है, ऐसा उन
का मत है। अतः बौद्ध मतानुयायी कहता है कि “व्यवसायात्मक ज्ञान ही
प्रमाण है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक है”

अर्थ का तथा भाव प्रकाशकत्व रूप में व्याज लोन, अविसंबंध है। प्रत्यक्ष का अव्यवसायात्मकत्व अविसंबंधी नहीं हो सकता।

संशय-विपर्यय एवं अनव्यवसाय रूप ज्ञान का समारोप कहते हैं। प्रमाण नियम से समारोप विरुद्ध होता है। उस का व्यवसायात्मकत्व ही अविसंबंध युक्त है। व्यवसायात्मक यानि निश्चयात्मक। यदि प्रमाण [चाहे वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही क्यों न हो] व्यवसायात्मक न हो तो वह अनव्यवसाय पने को प्राप्त होगा।

भाग में गमन करते हुए व्यक्ति का तुण का स्पर्श होने पर ऐसा आभास हो जाता है कि जिस का स्पर्श मेरे द्वारा हुआ है- वह कोई वस्तु है परन्तु वह है क्या? इस का निर्णय वह नहीं कर सकता। इस प्रकार से अनिष्टियात्मक ज्ञान को अनव्यवसाय कहते हैं, अव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण अनव्यवसायात्मकत्व को प्राप्त होता है। अनव्यवसाय समारोप है, अतः वह प्रमाण समारोप युक्त है, जब कि प्रमाण समारोप से विरुद्ध होना चाहिये।

जो अनिश्चयात्मक ज्ञान है, वह स्व और पर को परिच्छिति में साधकतम नहीं हो सकता। साधकतम न होने से वह अप्राप्तिय को प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण को अव्यवसायात्मक भानने पर मुख्यतः तीन दोष आते हैं।

1. वह निर्णयात्मक नहीं हो सकता।
2. वह साधकतम नहीं हो सकता।
3. वह अविसंबंधक नहीं हो सकता।

अतः जैनाचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष एवं अर्थ व्यवसायात्मक ही है, क्योंकि वह प्रमाण है, अतः वह अनुमान के समान हो समारोप विरुद्ध भी है। व्यवसायात्मकता के अभाव में प्रमाणत्व स्वीकार करना, अज्ञानत्व है।

**उत्थानिका - प्रमाणलक्षणत्वेन लक्षितस्य ज्ञानस्य
स्वव्यवसायात्मकत्वसाधनम्-**

अर्थ - प्रमाण लक्षणत्व से लक्षित ज्ञान के स्व-व्यवसायात्मकत्व की सिद्धि-

21. अत्रान्ये यौग-भीमांसक-सांख्य बदनि। अस्तु नाम व्यवसायात्मकं
ज्ञानं प्रमाणम्, परं तत् अर्थव्यवसायात्मकप्रेव न च स्व व्यवसायात्मकम्,
स्वात्मनि क्रिया विरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबदुः
स्वकायस्कन्धमारोहति। न हि सुतीक्ष्णोऽपि खद्गधारः स्वात्मानं छिनति।
तथाहि-ज्ञानं न स्वव्यवसायात्मकम्, ज्ञकर्मत्वेनाप्रतीयमानात्, यद्यव्यवसीयते
तत्कर्मत्वेन प्रतीयते, यथा-घटादिः, कर्मत्वेनाप्रतीयमानं च ज्ञानम्,
तस्मात् स्वव्यवसायात्मकम्। न आयमसिद्धो हेतुः। प्रमाणं
कर्मत्वेनाप्रतीयमानं, करणत्वात्। न हि यदेव करणं कर्म भवितुमहति।
तयोः कर्मत्वरणयोः परस्परं उत्तीर्णात्। कर्मदाराणाकारकयोरेकशापित्रे
वस्तुन्यसंभवात्। घटादिपरिच्छेद्यं हि कर्म, परिच्छेदकस्तु कर्ता, येन
परिच्छिद्यते तत्करणापिति कर्त्-कर्त्त-करणानां परस्पर भेदः,
भिन्नप्रत्ययविषयत्वात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात्,
घट-पटादिवत्। येषां भिन्नप्रत्ययविषयत्वं ते भिन्ना एव, यथा-घटपटादयः,
तथा चामी, तस्मात्तथेति। ततश्च न स्वव्यवसायात्मकम्, स्वात्मनि
क्रियाविरोधात्।

अर्थ - पूर्वपक्ष- यहाँ यौग-भीमांसक और सांख्य कहते हैं कि व्यवसायात्मक
ज्ञान प्रमाण होवें, परन्तु वह ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक ही है, न कि
स्व-व्यवसायात्मक, क्योंकि स्व में क्रिया का होना विरुद्ध है। सुशिक्षित
नटबदु भी अपने कर्मे पर नहीं चढ़ता। सु-तीक्ष्ण खद्गधारी भी अपने
आप को नहीं छेदता।

निश्चय से उसी प्रकार ही ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, ज कर्म के प्रति
अप्रतीयमान होने से। जो व्यवसाय होता है, वह कर्मत्व से प्रतीत होता है,

जैसे-घटादि, ज्ञान कर्मत्व से अप्रतीयमान है, अतः वह स्व-व्यवसायात्मक नहीं है। वह हेतु असिद्ध भी नहीं है। प्रमाण कर्मत्व से अप्रतीयमान होता है, करण होने से। जो करण नहीं है, वही कर्म हो सकता है, क्योंकि कर्म और करण का परस्पर विरोध है। कर्म और करण आरक्ष एकत्र अभिय त्रस्तु में असंभव है। घटादि परिच्छेद कर्म है, परिच्छेदक कर्ता है, जिस से परिच्छेदन किया जाये, वह करण है। इस प्रकार कर्तु-कर्म-करणों का परस्पर भेद है, भिन्न प्रत्यय का विषय होने से, भिन्न अर्थ क्रियाकारी होने से और भिन्न कारणों के द्वारा उत्तर होने से, जैसे- घट, पट आदि के समान। जो भिन्न प्रत्यय के विषय होते हैं, वे भिन्न ही हैं, जैसे- घट, पट आदि। उसी प्रकार वह अर्थक्रिया भी है। इसलिए वह ज्ञान स्व-व्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया होने में विरोध है।

भावार्थ - याँग-पीरासक एवं सांख्य दर्शनबादी का पूर्वपक्ष यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। उन का मत है कि सुशिक्षित बटवटु भी अपने कान्धे पर नहीं चढ़ सकता। कोई भी खड़गधारी अपना वध नहीं करता, उसी प्रकार कोई ज्ञान स्व-व्यवसाय नहीं कर सकता। अतः भले ही ज्ञान व्यवसायात्मक हो परन्तु वह पर-व्यवसायात्मक ही है, स्व-व्यवसायात्मक नहीं। अतः उसे स्व-व्यवसायात्मक मानना, उचित नहीं है।

शंका - स्व-व्यवसाय किसे कहते हैं?

समाधान - स्व यानि अपना और व्यवसाय यानि निश्चय। आत्मप्रतीति अथवा अपने आपको जानने का नाम स्व-व्यवसाय है।

आ. भाणिकयन्दि जी ने लिखा है कि-

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। [परीक्षापुरुष 1/6]

अर्थ - स्वोन्मुख रूप से अपने आपको जानना, स्व-व्यवसाय है।

प्रमाण स्व-व्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि स्वात्मा में क्रिया होने का अभाव है। प्रमाण करण है। जो करण है, वह कर्म नहीं हो सकता।

व्यवसायात्मकत्व कर्म है। कार्म और करण परस्पर विरुद्ध हैं। एक त्री वस्तु में कार्य और करण कारक का एकत्र-अभिन्न रहना, असंभव है।

जैसे घट को जानने वाला कर्ता है, घट का परिच्छेद्यत्व कर्म है तथा जिस द्वारा घट का परिच्छेदन किया जाता है, वह करण है। इस प्रकार कर्ता करण और करण में भिन्नत्व पाया जाता है। वे भिन्न क्यों हैं? क्योंकि

★ उन के विषय भिन्न हैं।

★ उन की अर्थक्रिया भिन्न है।

★ वे भिन्न करणों के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

जो कर्म के प्रति ज्ञान अप्रीयमान है। अतः ज्ञान पर व्यवसायात्मक तो हो सकता है, परन्तु स्व-व्यवसायात्मक नहीं हो सकता।

इस पूर्व पक्ष का समाधान ग्रंथकार स्वयं आगे करेंगे।



22. तत्त्वोविलसितम्, तथा हि- सम्प्यज्ञानं स्व-व्यवसायात्मकम्, अर्थव्यवसायात्मकत्वात्, यस्तु न स्व-व्यवसायात्मकं तत्त्वार्थव्यवसायात्मकम्, यथा घटपटादि, अर्थव्यवसायात्मकं च ज्ञानम्, तस्यात्मव्यवसायात्मकमिति।

अर्थ - उत्तर पक्ष- उस तम के विलास को दूर करते हैं। [उस को समझाते हैं] वह इस प्रकार है- सम्प्यज्ञान स्व-व्यवसायात्मक है, अर्थव्यवसायात्मक होने से। जो स्व व्यवसायात्मक नहीं होता, वह अर्थव्यवसायात्मक भी नहीं होता, जैसे- घट, पट आदि। ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक होता है, अतः स्वव्यवसायात्मक है।

भावार्थ - परोक्ष ज्ञानवादी पीरासिक, अस्वसंवेदन ज्ञानवादी सार्हद तथा ज्ञानान्तर प्रत्यक्ष ज्ञानवादी यौग मतावलम्बी शिष्यों को वस्तुतत्त्व का सम्बोध कराने के लिए आचार्य सम्बोधित करते हैं कि- सम्प्यज्ञान

स्व-व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह अर्थ-व्यवसाय को करनेवाला है। घट-घट आदि पदार्थ स्व-व्यवसायात्मक नहीं होते, अतः वे अर्थ-व्यवसायात्मक नहीं होते। अतः जो वार्दी प्राप्ति दो अर्थव्यवसायात्मक ही मानते हैं, स्व-व्यवसायात्मक नहीं, वे वार्दी भ्रमपूर्ण मान्यता से युक्त हैं।



उत्थानिका - स्वात्मनि क्रियाविरोधं परिहरति-

अर्थ - स्वात्मा में क्रिया के विरोध का परिहरण करते हैं—

23. यदत्र स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधक इत्युक्तम्, तदपि न पठिष्ठम्, स्वात्मनि क्रिया विरुद्धते-किं धात्वर्थलक्षणा, उत्पत्तिलक्षणा, ज्ञप्तिलक्षणा च। न तावद्वात्वर्थलक्षणा तत्र विरुद्धते, तत्र तस्याविरोधात्। क्रियाया [धात्वर्थलक्षणायाः] द्विष्टत्वात्। एका धात्वर्थलक्षणा क्रिया कर्तृस्था। अन्या च कर्मस्था। तदुक्तम्-

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया।

समासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया॥

अर्थ - जो आत्मा में क्रियाविरोध बाधक है, ऐसा कहा वह भी उचित नहीं है। स्वात्मा में क्रिया विरोध को प्राप्त नहीं होती है, वह धात्वर्थलक्षण है, उत्पत्ति लक्षण है या ज्ञप्तिलक्षण?

धात्वर्थ लक्षण क्रिया वहाँ विरोध को प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि उस का वहाँ अविरोध है। धात्वर्थलक्षण क्रिया द्विस्थ होने से। वह क्रिया एक कर्तृस्थ होती है-दूसरी कर्मस्थ।

क्रिया के कर्मस्थ होने पर भाव पर यदि बल है, तो भाव पुष्ट होगा और यदि कर्म पर बल है, तो क्रिया तदनुसार होगी। समास पद में कर्तृस्थ क्रिया में कर्तृस्थता होगी।

भावार्थ - स्वात्मा में क्रिया नहीं हो सकती, अतः प्रमाण स्व को नहीं जानता। ऐसा भल यौग-भीमासक और सांख्य मतावलम्बियों का है। एवं उकार मिछूँ करते हैं कि स्वात्मा में क्रिया हो सकती है। अतः प्रमाण स्व को जानता है।

क्रिया तीन प्रकार को होती है, धात्वर्थ लक्षणा क्रिया, उत्पत्ति लक्षणा क्रिया और जप्ति लक्षणा क्रिया।

धात्वर्थ लक्षणा क्रिया- धातुओं के द्वारा निष्पत्ति होने वाली क्रिया, को धात्वर्थ लक्षणा क्रिया कहते हैं।

उत्पत्ति लक्षणा क्रिया- क्रिया और कारकों में भेद है। कारकों के द्वारा जो क्रिया की उत्पत्ति रूप कार्य होता है, उसे उत्पत्ति रूप क्रिया कहते हैं।

जप्ति लक्षणा क्रिया- जप्ति यानि जानना। जिस क्रिया के द्वारा जानने रूप कार्य होता है, उसे जप्तिलक्षणा क्रिया कहते हैं।

आपने जो आत्मा में क्रियाविरोध प्रकट किया है, वह इन तीनों में से कौन सी क्रिया है? वह विरोध को प्राप्त होने वाली क्रिया धात्वर्थ लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि वह अविरोधी है। यह क्रिया दो प्रकार की है। कर्तृस्थ एवं कर्मस्थ।

जो क्रिया कर्ता में रहती है, वह कर्तृस्थ क्रिया है। जो क्रिया कर्म में रहती है, वह कर्मस्थ क्रिया है।



24. या चोत्पत्तिलक्षणा स्वात्मनि विरुद्धयते सा विरुद्धयताम्, तद्विरोध स्थान्तीकरणात्। बदुकम्—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धयते।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते॥

[आप्तभीमासा- 24]

अर्थ - जो उत्पत्ति लक्षण क्रिया का स्वात्मा में विरोध है, वह होवे-क्योंकि उस का विरोध हमने स्वीकार किया हो है। कहा भी है कि-

अद्वृत एकान्त पक्ष में भी कारकों और क्रियाओं में जो प्रत्यक्ष सिद्ध भेद हैं, उस में विरोध आता है, क्योंकि एक वस्तु स्वयं अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती है।

भावार्थ - आप स्वात्मा में क्रिया का विरोध मानते हैं। वह क्रिया क्या उत्पत्तिलक्षण क्रिया है? यदि हीं, तो उस क्रिया का स्वात्मा में विरोध हमने भी स्वीकार किया है। जो मत उभयपक्ष को इष्ट होता है, उस में विवाद होता ही नहीं है।

जहाँ केवल एक ही वस्तु का सद्भाव माना जाता है, वह अद्वैतेकान्त कहलाता है। इस के ब्रह्माद्वैत, शान्ताद्वैत, रामाद्वैत आदि अनेक ऐद हैं, अद्वैतमात्र को मानने में क्रिया और कारक विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध भेद द्वारा ख्यात रूपेण विरोध आता है, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं अपने से कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है।

कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-आपादान-सम्बन्ध-अधिकारण ये सात कारक हैं, इन में परस्पर भेद है, जो कि सर्वज्ञ सुप्रसिद्ध है।

गमन-आगमन-प्रसरण-आकृच्छ-परिस्पन्दनादि अनेक प्रकार की क्रियाएँ हैं, प्रत्येक पदार्थ में क्रिया भिन्न-भिन्न पायी जाती है, क्रिया-क्रिया में भेद है तथा क्रिया व कारक में प्रत्यक्षसिद्ध अन्तर है। इन अन्तरों के कारण अद्वैत मत दूषित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि क्रिया व कारकों में भेद है। अतः उन के उत्पत्ति लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः स्वात्मा में यदि उत्पत्तिलक्षण क्रिया का अभाव है, तो हमें [जैनों को] उस में कोई बाधा नहीं है।

25. अथ ज्ञाप्तिलक्षणा क्रिया, न सा विरुद्धयते, कथंचित्कर्तृभिन्नस्य करणस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि-आत्मा कर्ता स्वसंवेदो भवता [स्वीकृतः], तत्र कथं कर्मत्वं जा विरुद्धयते? अथात्मा कर्तृत्वेन प्रतीयमानो न विरुद्धयते, स्वप्रकाशरूपत्वात्, प्रदीपवत्, तर्हि तद्भासे ज्ञानमपि करणत्वेन प्रतीयमानं कथं विरोधमर्हति, प्रदीपभासुराकारवत्। तस्मात्प्र कर्तृ-करण-क्रियाणा कथंचित्परस्यरभिन्नाना स्वप्रकाशरूपाणां स्वार्थं प्रकाशकत्वमा विद्वद्भ्रं नाप्रसिद्धतया प्रतीयमानं विरोधतामाचनीस्कन्द्यते। तस्मात् स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणस्य लक्षणं सिद्धम्।

अर्थ - अब ज्ञाप्तिलक्षणा क्रिया, वह कर्ता को करण से कथंचित् अभिन्नत्व विद्यमान होने से विरोध को प्राप्त नहीं होगा। वह इस प्रकार है - आत्मा स्वसंवेद का कर्ता है, ऐसा आपने स्वीकृत किया। वहाँ वह कर्मत्व का विरुद्ध क्यों नहीं होता? आत्मा कर्तृत्व से प्रतीयमान विरोध को प्राप्त नहीं होता, प्रदीप के समान स्व प्रकाश रूप होने से। फिर उस का धर्म, ज्ञान भी करणत्व से प्रतीयमान होने को विरोध में किस तरह समर्थ है? प्रदीप के भासुराकार के समान। इसलिए परस्पर में कथंचित् भिन्न कर्तृ-करण-क्रिया का स्व-प्रकाश रूप स्वार्थं प्रकाशकत्व विद्वानों से लेकर स्त्रियों तक में प्रसिद्ध होने से प्रतीति होने में विरोध प्राप्त नहीं होता। इसलिए स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है यह प्रमाण का लक्षण सिद्ध है।

भावार्थ - जब योग-भीमांसक और सांख्यों ने पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा कि प्रमाण स्व-व्यवसायात्मक नहीं होता-स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से। तब जैनाचार्यों ने कहा कि क्रियायें तीन प्रकार की होती हैं, 1. धात्वार्थ लक्षणा क्रिया, 2. उत्पत्ति लक्षणा क्रिया तथा 3. ज्ञाप्ति लक्षणा क्रिया। प्रारंभिक दो क्रियाओं की भीमांसा पूर्व में की जा चुकी है। अब ज्ञाप्तिलक्षणा क्रिया का विषय प्रस्तोग प्राप्त है। ज्ञाप्ति लक्षणा क्रिया आत्मा में होती या नहीं? यह प्रश्न विचारणीय है। आत्मा अत्यंत यानि ज है। ज्ञान

आत्मा का गुण है। गुण और गुणी कथचित् अभिन्न भी होते हैं। अतः ज्ञान लक्षण लिया यहाँ जानने की लिया आत्मा में पायी जाना, विरुद्ध नहीं है। यदि आत्मा न आने, अर्थात् जानने की लिया न करें, तो स्वरूप विच्छेद का प्रसंग प्राप्त होता।

जैसे दीपक पर का प्रकाशित करता है, वैसे स्व को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा पर को जानता है, वैसे स्व को भी जानता है। ऐसा न मानने पर स्व को जानने के लिए किसी पर की व्य उस को जानने के लिए, किसी अन्य की कल्पना करनी पड़ेगी, जिस से अनवस्था दूषण की आपत्ति होगी। एतदर्थ कर्ता-कर्म एवं करण को कथचित् भिन्न कथचित् अभिन्न सप्तभंगी रूप जानना चाहिये। सारांश यह है कि स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, यह प्रमाण का निर्दोष लक्षण है।

इति प्रमाणतत्त्व-परीक्षा ।

इस प्रकार नरेन्द्रसेवाचार्य विचित्र प्रमाण-प्रमेय-कलिका ग्रंथ में प्रमाणतत्त्व की परीक्षा पूर्ण हुई।

प्रमाणप्रमेयकलिका

2. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा

उत्थानिका - प्रमाणतत्त्वं परीक्ष्य प्रमेयतत्त्वपरीक्षापृष्ठक्रमते -

अर्थ - प्रमाणतत्त्व की परीक्षा कर के अब प्रमेयतत्त्व की परीक्षा का उपक्रम करते हैं-

26. ननु प्रमाणो भवतु ज्ञानरूपमज्ञानरूपं वा, परं तत्प्रमेयार्थमङ्गीक्रियते, प्रभीयते येन प्रमेयार्थस्तप्रामाणमिति निर्वचनात्। स च प्रमेयार्थः स्वरूपान्वदिशेषो वा, उभयमनुभवं वा, एकमनेकं वा, अनेकमध्येकधर्मात्मकमनेकधर्मात्मकं वा, परस्पर निरपेक्षं सापेक्षं वा, वस्तुस्वरूपं वक्तव्यमवक्तव्यं वा, वक्तव्यावक्तव्यं वा, सविकल्पमाविकल्पं वा, भावरूपमभावरूपं वा, निरपेक्षभावभावरूपं वा [परस्परसापेक्षं] उभयात्मकं वा, सगुणं निर्गुणं वा, परस्पर निरपेक्षमुभवं वा, [परस्पर सापेक्षं] उभयात्मकं वा, अद्वैतं द्वैतं वा, नित्यमनित्यं वा, निरपेक्ष नित्यानित्यं वा, तदपि सापेक्षं वा, क्षणिकमक्षणिकं वा, क्षणिकाक्षणिकं वा, सर्वथा शून्यं वा, स्व-धैर्यः सम्बन्धमसम्बन्धं वा, सक्रियमक्रियं वा, शुद्धपशुद्धं वा, उपहनुतमनुहनुतं वा, इति पृष्ठः स्पष्टमाच्छद्दे।

अर्थ - प्रमाण ज्ञान रूप होते अथवा अज्ञानरूप, परन्तु वह प्रमेयार्थ को ग्रहण करता है। जिस के द्वारा प्रमेयार्थ की प्रमिति की जाती है, वह प्रमाण है, इस निर्वचन से। वह प्रमेय सामान्य है कि विशेष? उभय है कि अनुभय? एक है कि अनेक? अनेक होते हुए भी एक धर्मात्मक है कि अनेक धर्मात्मक? परस्पर निरपेक्ष है कि सापेक्ष? वस्तु स्वरूप वक्तव्य है कि अवक्तव्य है या वक्तव्यावक्तव्य [उभयरूप] है? सविकल्प है या अविकल्प? भाव रूप है कि अभावरूप? निरपेक्ष भाव रूप है या निरपेक्ष अभाव रूप है अथवा परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है? सगुण है कि निर्गुण है या परस्पर सापेक्ष उभय है अथवा परस्पर निरपेक्ष उभय है? द्वैत है कि अद्वैत है? नित्य है-अनित्य है-नित्यानित्य है या निरपेक्षनित्यानित्य है? वह भी सापेक्ष है? क्षणिक है-अक्षणिक है-क्षणिकाक्षणिक है कि सर्वथा शून्य

है? सब थर्मो में सम्बन्ध है कि असम्बन्ध है? सक्रिय है कि अक्रिय है? शुद्ध है कि अशुद्ध है? छिपा हुआ है कि प्रकट है? ऐसा पूछने पर स्पष्ट कहते हैं।

आवार्थ - प्रमाणतत्त्व की परीक्षा की गयी है। अब प्रधेयतत्त्व की परीक्षा का प्रसंग है। प्रतिवादी का कथन है कि चलो, हम प्रमाण को स्वीकार कर लेते हैं, ताहे वह ज्ञानरूप हो अथवा अज्ञान रूप हो, लेकिन वह प्रमेय को स्वीकार तो करता है, क्योंकि प्रमाण का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है- जो प्रमेय पदार्थ को जानता है, वह प्रमाण है। अतः प्रमाण की चर्चा को विस्तार दे कर प्रमेयतत्त्व की चर्चा करें।

शंका - प्रमेय किसे कहते हैं?

समाधार - प्रमाण जिस को जानता है, वह प्रमेय कहलाता है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, उसे प्रमेय कहते हैं।

★ वह प्रमेय सामान्य है कि विशेष है?

★ वह प्रमेय उभय है कि अनुभव है?

★ वह प्रमेय एक है कि असंक है?

★ अनेक होते हुए वह प्रमेय एक धर्मात्मक है कि अनेक धर्मात्मक हैं?

★ वह प्रमेय परस्पर निरपेक्ष है कि सापेक्ष है?

★ बस्तु का स्वरूप वक्तव्य है, अवक्तव्य है या उभयरूप है?

★ वह प्रमेय सविकल्प है कि निविकल्प है?

★ वह प्रमेय भावरूप है कि अभावरूप है? निरपेक्ष भाव या निरपेक्ष अभाव या सापेक्ष उभयात्मक है?

★ वह प्रमेय द्वैत है कि अद्वैत है?

★ वह प्रमेय नित्य है कि अनित्य है अथवा उभयात्मक या निरपेक्ष नित्यानित्य है?

- ★ क्या वह प्रमेय सापेक्ष है?
- ★ वह प्रमेय क्षणिक है कि अक्षणिक है अथवा क्षणिकाक्षणिक है या सर्वथा शून्य है?
- ★ वह प्रमेय स्वधर्मों से सम्बन्धयुक्त है कि सम्बन्ध से विरहित है?
- ★ वह प्रमेय क्रिया सहित होता है या क्रिया रहित होता है?
- ★ वह प्रमेय शुद्ध है कि अशुद्ध है?
- ★ वह प्रमेय लिपा हुआ है कि प्रकट है?

प्रमेय के विषय में इत्यादि प्रश्न पाये जाते हैं, जिन पर विचार किये विनातस्व की परीक्षा अपूर्ण रह जायेगी। अतः इनका विचार करते हैं।



उत्थानिका - तत्र प्रथमं सामान्यमेव प्रमाणस्य विषय इति मतं समालोचयति-

अर्थ - उस में प्रथम सामान्य ही प्रमाण का विषय है, इस मत की समालोचना करते हैं-

27. न तावत्सामान्यमेव प्रमाणस्य विषयः, विशेषनिरपेक्षस्य तस्यासंभवात्। यदुक्तम्-

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।

[मीमांसा श्लोकवार्तिक-10] इति ।

निराश्रयस्य सामान्यस्य क्वचित्कदाचित्कथंचित्क्लेनचिदनु-
पलभ्यमानत्वात् वन्ध्यास्तनन्वयवत् । सामान्यं हि नाम समानो धर्मः
स्वधर्मः, स च खण्ड-मुण्डादिव्यवस्थावे कुतः स्वात्मानमासादयति ।
तथा च प्रयोगः- नास्तिकेवलं सामन्यम्, व्यक्त्वभावेऽनाश्रितत्वात् ।
यो हि वास्तवो धर्मः स न अनाश्रितो दृष्टः, यथा सुख-दुःख-
हर्ष-विषादादिः, अनाश्रितश्चायम् [सामान्यस्त्वो धर्मः] तस्मान्लास्ति ।

तच्च सामान्यं वास्तवमबास्तवं वा । न तावदवास्तव्यम्, सौगतमतानुषड्ग्रात् । नापि वास्तवम् वास्तवे तत्किं धर्मो धर्मी वा स्यात् । धर्मश्चेत्, म कि साधारणोऽसाधारणो वा । न तावदसाधारणः, तस्य विशेषरूपतापत्तेः । अथ साधारणः स चासिद्धः, यतः कैः सह साधारणत्वं तस्य, पदार्थन्तराभावात् । तदभावश्च प्रमाणाविषयत्वात् । प्रमाणात्मिकत्वेन त्वेतत्वं सामान्यमेवाङ्गीक्रियते [भवता] तदित्यं न साधारणोऽपि धर्मो विचारणां घाउत्यति । नापि धर्मो, सामान्यस्य पदार्थधर्मत्वात् । धर्मित्वेनाङ्गीक्रियपाणस्य तस्य स्वरूपेणावासिद्धत्वात् । धर्मिणः पदार्थत्वेन सर्वैरपि लोकिकैः परीक्षेवाङ्गीगकरणात्सामान्यमात्रमेव तस्यपिति पक्षे कक्षीक्रियमाणे धर्मिणः कस्यचिदप्यभावात् । धर्मसामान्यपिति सामान्यमात्रं वज्ञास्तनन्य यो गैर इत्यादिवत् कथं न विरोधमास्कन्दति । तस्माह्यगनारविन्दमकरन्दव्यावर्णलिपिव सामान्यमेव प्रमाणस्य विषय इत्यादि सर्वमनवधेयार्थं विषयत्वेनोपेक्षापहंति ।

अर्थ- उस में सामान्य ही प्रमाण का विषय नहीं है, विशेष से निरपेक्ष सामान्य की अस्तित्वता होने से । कहा भी है कि-

निर्विशेष सामान्य खरविषाण की तरह होता है ।

निराश्रय सामान्य का कहीं-कभी-किसी प्रकार-किसी के द्वारा उपलब्धमान नहीं है- वज्ञापुत्र के समान । सामान्य अर्थात् समान धर्म-सधर्म, वह खण्ड-मुण्ड आदि की प्रकटता के अभाव में अपने को प्रकट कैसे करता है ?

उस का प्रयोग- केवल सामान्य नहीं है, व्यक्तता के अभाव में, अनाश्रित होने से । जो वास्तविक धर्म होता है, वह अनाश्रय नहीं देखा जाता, जैसे- सुख, दुःख, हर्ष और विषाद आदि । सामान्यरूप धर्म अनाश्रित है, इसलिए केवल सामान्य नहीं है ।

वह सामान्य वास्तविक है या अवास्तविक है ? वह सामान्य अवास्तविक नहीं है, सौगत भूत का प्रसंग आने से । वह सामान्य वास्तविक भी नहीं है । यदि वह सामान्य वास्तविक है, तो वह धर्म है कि धर्म । यदि

अमं कहते हों, तो साधारण है या असाधारण ? वह धर्म असाधारण नहीं है, उस के विशेष रूप की आपसि आ जाने से । यदि वह धर्म साधारण है, तो वह असिद्ध है, क्योंकि यदार्थन्त्र का अभाव होने पर उस का किस के माध्य साधारणत्व है ? साधारण का अभाव है, प्रमाण का विषय न होने से । आप के द्वारा प्रमाण के विषय रूप में केवल सामान्य को म्हीकार किया गया है । यहाँ वह साधारण धर्म विचारणा को प्राप्त नहीं होता है ।

वह साधारण धर्मी भी नहीं है, सामान्य पदार्थ का धर्म होने से । धर्मी रूप से उस को अंगीकार करने पर वह स्वरूप से ही असिद्ध ही जायेगा । धर्मी को यदार्थ से सम्पूर्ण लौकिक एवं परीक्षकों के द्वारा अंगीकार करने से सामान्य मात्र ही तत्त्व है, ऐसे पक्ष को स्वीकार करने पर धर्मी आ कहीं अभाव होता है । धर्मी सामान्य इसप्रकार सामान्य मात्र वन्ध्यर का पुत्र गौणवर्ग बाला है इत्यादि वचनों के समान विरोध को अद्यो प्राप्त नहीं होता ? इसलिए आकाशकमल के घकरन्द का वर्णन करने के समान सामान्य ही प्रमाण का विषय है । सामान्यमेव प्रमाणस्य विषयः इत्यादि सम्पूर्ण अनबद्ध अर्थ का विषयल्ल होने से उपेक्षा को प्राप्त होता है ।

भावार्थ - प्रमेय तत्त्व की परीक्षा प्रारंभ करते ही ग्रंथकार ने प्रमेय विषयक अनेक शंकायें उपस्थित की हैं । अब उन का समाधान किया जा रहा है । सांख्यों का कथन है कि केवल सामान्य ही प्रमाण का विषय है । क्या सांख्य कथित भत् सभीचीन है ? इस की परीक्षा प्रस्तुत प्रकरण में की जा रही है ।

केवल सामान्य ही प्रमाण का विषय नहीं है, क्योंकि विशेष से रहित सामान्य को उपलब्धि कहीं भी, कभी भी, किसी प्रकार भी और किसी को भी आजतक नहीं हुई है । विशेष विरहित सामान्य सर्वत्र वन्ध्यापुत्र के समान, खण्डविषय के समान अथवा गगनार्थविन्द के समान अनुपलभ्यमान है ।

शंका - सामान्य किस कहते हैं ?

समाधान - अनुवृत्ति अर्थात् एकता की प्रतीति करने वाले प्रत्यय को सामान्य कहते हैं अथवा समझता को दिखाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है ।

पं. गजमल्ल जी ने लिखा है कि

बहुव्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशात्पतः । [र्थचाल्यायी]

अर्थ - सदृशता से जो बहुत देश में व्यापक रहता है, उसी को सामान्य कहते हैं ।

सामान्य यानि समान धर्म । समान धर्म विना विशेष के प्राप्त नहीं होता और एक स्थान पर अनेकों गाये खड़ी हैं । कोई गाय खड़ी है, तो कोई मुण्डी है । उन सभी में गौत्व सामान्य है, किन्तु वह गौत्व खण्ड-मुण्ड आदि विशेष धर्म के अभाव में प्रकट नहीं हो पाता है ।

अनुमान से भी यही बात सिद्ध होती है । केवल सामान्य कभी भी प्रकट नहीं हो सकता, अतः केवल समान्य नहीं है । विशेष विना सामान्य निराश्रित है । जो धर्म रूप होता है, वह सुख-ुरक्षादि के लगान अनिवार्य नहीं हो सकता । आपने सामान्य को अनाश्रित माना है । अतः उस का अस्तित्व ही नहीं है ।

वह सामान्य वास्तविक है कि अवास्तविक ?

सामान्य अवास्तविक है, ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने पर बोझमत की सिद्धि हो जायेगी और परपक्ष की सिद्धि होना दृष्टण है ।

सामान्य वास्तविक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वास्तविक है, तो वह धर्म है या धर्मी ? आप लोग उसे धर्म नहीं मान सकते, क्योंकि पुनः पूछ जायेगा कि धर्म है तो साधारण है या अस्त्वधारण ? यदि आप साधारण स्वीकार करोगे, तो विशेष रूप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अस्त्वधारण का अपर नाम ही विशेष है । साधारण नहीं माना जा सकता, जब दूसरा कोई पदार्थ आप नहीं मानते, तब वह साधारण किस के साथ साधारणपने को प्राप्त होगा ? इस से साधारण का यानि सामान्य का अभाव हो जायेगा । प्रमाण का विषय सामान्य है, ऐसा आपका पक्ष है, प्रमाण के विषयभूत सामान्य पदार्थ का अभाव सिद्ध हुआ, तो प्रमाण का भी अभाव स्वयमेव हो जाता है, क्योंकि विषय के विना प्रमाण किस को जानेगा ?

बह सामान्य धर्मी नहीं हो सकता, क्योंकि आप के मत में सामान्य को पदार्थ का धर्म स्वीकार किया है और जो धर्म होता है, वह धर्मी नहीं हो सकता। यदि उन्हें धर्म रूप अवगति करते हैं, तो वह स्वरूप से ही असिद्ध हो जाता है। जिस की असिद्ध होती है, उस का कथन नहीं हो सकता। क्या बन्धा का पुनर्सुन्दर है, ऐसा कथन किया जा सकता है? क्या आकाश में खिलने वाले कमल के मकरन्द का वर्णन किया जा सकता है?

अतः सामान्य ही प्रमाण का विषय है यह पक्ष अनवधेय अर्थ विषयपते को प्राप्त होने के कारण निर्दीष नहीं है।

सारांश यह है कि केवल सामान्य का बोध किसी को नहीं हो सकता, जब कभी पदार्थ का बोध होता है तो विशेष सापेक्ष सामान्य का बोध होता है। अतः निरपेक्ष सामान्य प्रमाण का विषय नहीं है।



उत्थानिका- विशेष एवं प्रमाणस्य विषय इति सौगतमतमुपन्यस्य तदपि समालोच्यथाति-

अर्थ- विशेष ही प्रमाण का विषय है। ऐसे सौगत कथित मत की समालोचना करते हैं-

28. एतेन विशेष एवं प्रमाणस्य विषयः इति सौगताभिमतमपि निरस्तं बोधव्यम्, तस्यापि केवलस्य युगसहस्रेणाव्यप्रतिभासनात् । तदप्युक्तम्

सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि

[मीर्मासा श्लोकवार्तिक- आकृति. श्लोक- 1]

अर्थ- इस से ही [पूर्वकथित विषय से ही] विशेष ही प्रमाण का विषय है, ऐसे सौगत का अभिमत भी निरस्त हो गया, ऐसा जान लेना चाहिये। सामान्य रहित केवल विशेष का सहस्र युगों में भी अप्रतिभासन होने से। उसे भी कहा है कि-

सामान्य से रहित होने के कारण विशेष का भी अभाव हो जाता है।

भावार्थ- पूर्व में “सामान्य ही प्रमाण का विषय है” इस विषय की मौमांसा की जा चुकी है। उस से ही “विशेष ही प्रमाण का विषय है” यह अभिमत निरस्त हो जाता है। सामान्य और विशेष दोनों भी एक ही वस्तु के परस्पर पूरक दो धर्म हैं। दोनों में से एक भी धर्म अतिरिक्त रूप से अर्थात् स्वतंत्र रूप से पाया नहीं जाता। अतः विशेष ही प्रमाण का विषय है” यह पक्ष असिद्ध है।



29- विशेष हि नाम व्यावृत्ति लक्षणो धर्मः, स च धर्मिणो द्रव्यस्याभावे कौतस्कुतः प्रमाणतामियृद्यात् । अथ द्रव्यस्य कस्यचिदपि विद्यार्थीमाणस्याभावात् कर्थं विशेषाणां तदपेक्षा । स्वतंत्रा एव विशेषाः प्रतिभासने ।

तथाहि-विशेष एव तत्त्वम्, प्रत्यक्षादि प्रमाणानां तदगोचरचारित्वेनैव प्राप्याण्याभ्युपगमात्, न च द्रव्यत्वसामान्यं प्रमाणतः सिद्धम् । ततो नास्ति द्रव्यात्, प्रत्यक्षादि प्रमाणादिः प्रत्यक्षात्, नास्ति प्रमाणवत् ।

तथाहि- नात्यक्षं तत्साधकम्, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वात्, सम्बन्ध वर्तमान-विषयत्वाच्च । चाक्षुषाद्यक्षेण रूपमेव सम्बन्धं वर्तमानं च गृह्णते । स्पार्शनेन स्थर्षं एव, द्वाणजेन गन्धं एव, रासनेन रसं एव, श्रावणोन शब्दं एव, न तु रूप-रस-गन्ध-स्पार्शं शब्दानां परस्परपरिहारेणावस्थितानां विशेष रूपाणां व्यापकं द्रव्यं चाक्षुषादिप्रत्यक्षात्सिद्धम् । तत्कर्थं प्रत्यक्षतस्तत्सद्भावः ।

[नाप्यनुपानं तत्साधकम्, तस्य सम्बन्धग्रहणपूर्वकत्वात्, सम्बन्ध ग्राहकं च न किञ्चित्प्रमाणप्रसिद्धिः ।] न तावत्प्रत्यक्षं तत्सम्बन्धग्राहकम्, तेन तथाविद्य साध्यसाधनसम्बन्धस्याग्रहणात् । द्विष्ठो हि सम्बन्धः, एकस्य ग्रहणोऽपि अन्यस्याग्रहणे तदसंभवात् ।

तथा चोक्तम्

द्विष्ठसम्बन्धसवित्तिनैकरूपप्रवेदनात् ।

द्वयोः स्थरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार 1 - 2] इति

अर्थ- व्याख्या लक्षण धर्म को विशेष कहते हैं । वह विशेष धर्मी के अभाव में किसप्रकार से प्रमाणता को प्राप्त होगा ? अब द्रव्य का किसी के द्वारा भी विचार्यमाणत्व के अभाव से विशेषों को उस की अपेक्षा कहाँ है ? विशेष स्वतन्त्र ही प्रतिभासित होते हैं ।

वह इसप्रकार है- विशेष ही तत्त्व है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का गोचरचारी होने से वह प्रमाणता को प्राप्त होता है । द्रव्यत्व सम्बन्ध प्रमाण से सिद्ध नहीं है । इसलिए द्रव्य नहीं है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का अविषय होने से, खुरगोश के सींग के समान ।

तथा निष्ठाय से प्रत्यक्ष उस का साधक नहीं है, वह रूपादि नियत गोचरचारी होने से और वर्तमान का विषय होने से । चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा रूप ही सम्बन्ध और वर्तमान को ग्रहण करता है । स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का ही ग्रहण होता है । ग्राणेन्द्रिय से गन्ध का ही ग्रहण होता है । रसनेन्द्रिय से रस का ही ग्रहण होता है । श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ही ग्रहण होता है । रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दों का परस्पर में परिहार होने से अवस्थित विशेष रूपों का व्यापक द्रव्य चाक्षुषादि प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है । प्रत्यक्ष से उस का सद्भाव कैसे हो सकता है ?

अनुमान भी विशेष का साधक नहीं है, अनुमान का ग्रहण सम्बन्ध पूर्वक होने से । सम्बन्ध ग्राहक किंचित् प्रमाण नहीं है । वह सम्बन्धग्राहक प्रत्यक्ष नहीं है, उस के द्वारा इसप्रकार के साध्य-साधन को ग्रहण नहीं करने से । सम्बन्ध द्विस्थ ही होता है । एक का ग्रहण होने पर अन्य का ग्रहण नहीं होता असंभव होने में ।

कहा भी है कि-

दो में रहने वाले सम्बन्ध की संविति एक रूप के ज्ञानने से नहीं हो सकती है। दोनों के स्वरूप का ग्रहण करने पर ही उन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

भावार्थ- जो धर्म व्यावृत्त रहता है, उसे विशेष जाहते हैं। यदि धर्म नहीं होगा, तो धर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म धर्मी के आश्रय से रहता है - ऐसा नियम है। इत्य किसी के द्वारा विचार के विषय को प्राप्त नहीं होता। अतः उस का अभाव है, विशेषों को द्रव्य की अपेक्षा नहीं होती। विशेष स्वतन्त्र ही होते हैं।

विशेष ही तत्त्व हैं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा विशेष की सिद्धि होती है। इत्यत्व सामान्य प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः द्रव्य नहीं है। जैसे प्रमाण का विषय न होने से खरगोश के सीधे अभावभूत होते हैं, ऐसे प्रमाण का विषय न होने से द्रव्य का अभाव है।

यह सकल जन प्रत्यक्ष है कि

- स्फरनिदिय के द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता है।
- रसनेन्द्रिय के द्वारा रस का ज्ञान होता है।
- ध्वणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध का ज्ञान होता है।
- चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा वर्ण का ज्ञान होता है।
- श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दों का परस्पर में परिहार होता है, ऐसा होने से अवस्थित विशेष रूपों का व्यापक द्रव्य चक्षुषादि इन्द्रियों के सिद्ध नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा द्रव्य की सिद्धि नहीं होती।

अनुमान प्रमाण के द्वारा भी विशेष की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अनुमान का ग्रहण सम्बन्धपूर्वक होता है। 'सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला

कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष उस सम्बन्ध का ग्राहक नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का साध्य-साधन प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह नहीं है। सम्बन्ध द्विस्थ होता है अर्थात् दो पदार्थों में होता है। एक का ग्रहण कर लेने मात्र से अन्य का ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रमाणवाचिकालकार में भी लिखा है कि- दो पदार्थों में होने वाले सम्बन्ध का सम्बोधन एक रूप को जानने मात्र से नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों के स्वरूप का ग्रहण करने पर ही, उन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

यहाँ बौद्ध भतावलम्बियों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले पक्ष का कथन किया गया है। ग्रंथकार स्वयं इस पक्ष की शीर्षांशा करेंगे।



३० प्रत्यक्षस्य तदग्रहणं कुत इति चेत्, तस्य रूपादिनियतगोचरचारित्वेन प्राक् ग्राहपितत्वात् । पर्यायमात्रग्रहणे पर्यवसितत्वाच्च, द्रव्यग्रहणे स्वप्नेऽप्यदृतेः । अनुमानादपि सम्बन्धग्रहणं नास्ति । अतएवानुमानाद् ग्रहणमनुमानान्तराद्वा । अतएव चेदन्योऽन्याश्रवः । सिंद्धं हि द्रव्ये तल्लिङ्गस्य सम्बन्धसिद्धिस्ततिसद्वावनुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तराचेदनवस्था । सतः अनुमानादपि न द्रव्यसिद्धः, किन्तु पर्याया एव तस्यम्, तेषामेव प्रमाणविषयत्वं सिद्धिमधिकसति ।

अर्थ- प्रत्यक्ष का अंग्रहण वहाँ कैसे होता है? उस का रूपादिनियत गोचरचारी होने से पूर्व में ही निरूपण किया जा चुका है। पर्यायमात्र ग्रहण करने पर पर्यवसित होने से द्रव्य का ग्रहण स्वप्न में भी नहीं होता है। अनुमान से भी सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है। यदि ग्रहण होता है, तो इसी अनुमान से होता है कि अन्य अनुमान से? यदि इसी अनुमान से सम्बन्ध का ग्रहण होता है, तो अन्योन्याश्रय दोष है। द्रव्य के सिद्ध होने पर उस के लिंग की सम्बन्धसिद्धि होगी। सम्बन्ध की सिद्धि होने पर अनुमान की सिद्धि होगी।

यदि सम्बन्ध का ग्रहण अनुमानान्तर से होता है, तो अनवस्था दोष होगा। इसलिए अनुमान से भी द्रव्य की सिद्धि नहीं होती है, अपितु पर्याय ही तत्त्व है, उस के ही प्रमाण विषयत्व की सिद्ध होती है।

भावार्थ- वहाँ प्रत्यक्ष का ग्रहण क्यों नहीं होता ? क्योंकि वह रूपादिनियत गोचरचारी होता है । यह प्रस्तुपण पूर्व में ही किया जा सकता है । पर्यायमात्र को ग्रहण करने पर द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्षतः वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं ।

अनुमान से भी वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है । यदि ग्रहण होता है ऐसा कहते हो, तो बताओ कि वह इसी अनुमान से ग्रहण होता है कि अनुमानान्तर से ग्रहण होता है । यांते इसी अनुमान से उस सम्बन्ध का ग्रहण होता है ऐसा आप का पक्ष है तो अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि द्रव्य को सिद्ध होने पर उस के लिंग की सम्बन्ध सिद्धि होगी व सम्बन्ध की सिद्धि होने पर अनुमान की सिद्धि होगी अनुमान की सिद्धि लिंग के आश्रय से व लिंग की सिद्धि अनुमान के आश्रय से होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है ।

यदि आप ऐसा कहते हैं कि उस का ग्रहण अनुमानान्तर से होती है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस के ग्रहण के लिए किसी अनुमानान्तर की और पुनः उस की सिद्धि करने हेतु अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी । ऐसा होने पर अनबस्था दूषण प्राप्त होगा ।

अतः अनुमान से भी द्रव्य की सिद्धि नहीं होती है । इसलिए “पर्याय हो तत्त्व है” ऐसा हमारा पक्ष स्वयं सिद्ध होता है ।



३१ अथेदमुच्चते-यदि विशेषा एवं तत्त्वम् तर्हि ते प्रत्यक्षतः सिद्धाः किमनुमानसाध्यम् । वेनानुमानमपि प्रमाणान्तरमाश्रीयते । अन्यच्च-प्रमेयद्वैविद्यात्प्रमाणाद्वैविद्यम् ।

[प्रमाण वार्तिकालंकार 2/1] इति

वचनमप्युन्मत्तमाधितमेव स्यात्, तदेतदप्यस्यदभिप्रायापरिज्ञानादेव भवताभाणि स्वलक्षणानां क्षणिकत्वादिसाथ्येऽनुमानचरितार्थत्वात् ।

अर्थ- यदि आप एसा कहते हैं कि विशेष ही तत्त्व है, तो वे प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं कि अनुमान से सिद्ध है ? अनुमान कर भी आपने अन्य प्रमाण स्वीकार किया है । और-

प्रमेय दो प्रकार का होने से प्रमाण दो प्रकार का है ।

यह बचन उन्मत्तभाषित ही है । वह हमारे अधिग्राय के परिज्ञान के रहितता से आए को द्वारा कहा गया है, स्व-लक्षणों के क्षणिकत्व आदि साध्य में ही अनुमान चरितार्थ होने से ।

भावार्थ- बोंदु भत्तानुयायी मानते हैं कि विशेष ही तत्त्व है । उन से प्रश्न किया गया है कि वे विशेष तत्त्व प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं कि अनुमान से सिद्ध हैं ?

वे विशेष तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ को ग्रहण करने वाला है । अतः वह निरेश वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता । इस का सर्व प्रमुख कारण यह है कि परम्परा में सम्बन्ध-रहित परमाणु चक्षु आदि इन्द्रियों की बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते हैं ।

सजातीय और विजातीय परमाणुओं से असम्बन्ध और प्रतिक्षण विनाशशील जो निरेश परमाणु हैं, उन्हीं को बोंदु दर्शन में स्व-लक्षण कहा गया है । उन स्व-लक्षणों के क्षणिकत्व आदि साध्य में ही अनुमान चरितार्थ होता है, अतः वे विशेष तत्त्व अनुमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकते ।

बोंदु दर्शन में प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं । इन दोनों से “विशेष ही तत्त्व है” यह पक्ष सिद्ध नहीं होता, अतः वह बचन उन्मत्त के द्वारा किये गये प्रलाप के समान है ।



32 तदेतन तथ्यम् तथागतानामपि द्रव्यसामान्यस्य चिराकर्तुमशक्यत्वात् ।
प्रत्यक्षादि प्रमाणाविषयत्वाद् द्रव्यं किमपि नास्तीति वदुक्तं भवता

तत्सर्वमपि फलपूष्टायं स्थात्, तस्य प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणेन सिद्धत्वात् । न प्रत्यभिज्ञानमयमाणम्, तस्याप्यविसंवादकत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । यथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थं परिच्छिद्य वस्तुपदशक्त्वप्रापकत्वादिसंदेकत्वे भ्यः प्रामाण्यं तथैकत्वनिबन्धनस्य प्रत्यभिज्ञानस्यापि घटादिपर्यायेष मृद्ग्रन्धस्यानुभूतस्य [अन्वयितः] साधकत्वेनाऽबाल-गोपालादीनामपि प्रतीतिसिद्धत्वात्, प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमेव । ततः सिद्धं द्रव्यम्, निराश्रयाणां पर्यायादीनां स्वप्नेऽप्यप्रतीते ।

तथानुमानादपि द्रव्यमिद्धि, अस्ति द्रव्यम्, पर्यायाणामन्यथा-मुयपद्मानत्वात्, यत्र न द्रव्यपदार्थस्तत्र न विशेषाः, यथा मृद् द्रव्याभावे घटादयः, अनुपपद्मानत्वं च द्रव्याभावे विशेषाणाम् । तस्मात्पारमार्थिकपर्यायाणां सद्भावे द्रव्यपरि धारमार्थिकमुररीकर्त्तव्यम् । तत्कथं विशेषा एव तत्त्वमिति ।

अर्थ - यह तथ्यपूर्ण नहीं है, बौद्धों के द्वारा भी द्रव्य सामान्य का निराकरण अशक्य होने से, प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय न होने से कोई द्रव्य नहीं है- यह जो आप के द्वारा कहा गया है, वह सब निरर्थक है, द्रव्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से सिद्ध होने के कारण प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, उस का अविसंवादित भी प्रत्यक्षादि के समान है। जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान अर्थ की परिच्छिद्धि, वस्तु का उपदर्शकत्व, प्रापकत्व और अविसंवादित व्याप्ति प्रामाण्य है, उसीप्रकार एकत्वनिबन्धन प्रत्यभिज्ञान घटादि पर्यायों में मृद् द्रव्य अन्वयी साधकत्व से है- यह आबाल गोपालों को भी प्रतीति सिद्ध है । प्रत्यभिज्ञान प्रमाण ही है । द्रव्य भी सिद्ध है, निराश्रय पर्यायों की उत्पत्ति स्वप्न में भी नहीं होती । तथा अनुमान से भी द्रव्य की सिद्धि होती है । द्रव्य है, क्योंकि पर्यायों की अन्यथा उत्पत्ति नहीं होती । जहाँ द्रव्य पदार्थ नहीं है, वहाँ विशेष नहीं है, जैसे- मृद् द्रव्य के अभाव में घटादि । द्रव्य के अभाव में विशेषों का अनुपपद्मानत्व है, इसलिए पारमार्थिक पर्यायों का सद्भाव होने पर द्रव्य का भी सद्भाव स्वीकार करना चाहिये । फिर विशेष ही तत्त्व है- ऐसा कैसे हो सकता है ?

भावार्थ- बौद्धों का कथन है कि “विशेष ही द्रव्य है” किन्तु उन के द्वारा भी सामाज्य का निराकरण नहीं हो सकता है। “प्रत्यक्षादि प्रमाण का विभव न होने से कोई द्रव्य नहीं है” ऐसा बौद्धों का कथन अर्थहीन है।

द्रव्य प्रत्यभिज्ञान के द्वारा सिद्ध है। जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाण अविसंबादी होते हैं, उसीप्रकार प्रत्यभिज्ञान भी अविसंबादी होता है।

शंका- प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

समाधान आचार्य माणिक्यनन्द जी ने लिखा है कि—

दर्शनस्परणकारणके सङ्कलने प्रत्यभिज्ञानम् [परीक्षापुरुख 3/5]

अर्थात्- वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए पदार्थ का स्मरण ये दोनों हैं कारण जिस के, ऐसे संकलन अर्थात् अनुसंधान रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रतियोगी आदि अनेक घेद हैं। स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ में एकता दिखलाने वाले जोड़ रूप ज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह एकत्वनिष्ठन प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि जिसप्रकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के द्वारा वस्तु की परिच्छिति, वस्तु का उपदर्शकत्व, वस्तु का प्रापकत्व एवं अविसंबादकत्व सिद्ध होता है, उसीप्रकार प्रत्यभिज्ञान के द्वारा भी होता है।

जिराश्रय पर्यायों त्रिकाल में उत्पन्न नहीं हो सकती, यह बात आवाल मोपालों में सुप्रसिद्ध है।

अनुमान प्रमाण से भी द्रव्य की सिद्धि होती है, क्योंकि द्रव्य के किन पर्यायों की उत्पत्ति असंभव है। द्रव्य के अभाव हो जाने पर पर्यायों का भी अभाव हो जाता है। अतः पर्याय का सद्भाव मानने वालों को द्रव्य का सद्भाव भी स्वीकार करना पड़ता है।

इस से सिद्ध होता है कि “विशेष ही द्रव्य है” ऐसा एकान्त कथन उचित नहीं है।

उत्थानिका- प्रमाणविषयत्वेनाभ्युपगतं केवलं सामान्यं केवलं विशेषं च निरस्थाधुना स्वप्रतेन सापेक्षं सामान्यविशेषोभयं प्रमाण विषयं दर्शयति-

अर्थ- प्रमाण विषयत्व से अभ्युपगत केवल सामान्य और केवल विशेष का निराकरण कर के अब स्वप्रते से सापेक्ष सामान्य विशेष के उभयत्व को प्रमाण का विषय दिखाते हैं-

33 अथोभयं प्रमाणस्य विषयः, तत्किं सापेक्षं निरपेक्षं चा । सापेक्षं चेत् सिद्धसाधनम् । सापेक्षयोः सामान्य-विशेषयोः कथर्चित्सादात्म्याभ्युपगमेन एकत्राभिन्ने वस्तुनि स्याद्वादिभिरड्यीकरणात् तथैव प्रमेयत्वस्य सिद्धत्वात् ।

तथाहि- अधिकादितर्थं सामान्यविशेषप्रत्यक्षेव, प्रमेयत्वात्, यत्तु त सामान्य विशेषात्मकं तन्न प्रमेयम्, यथा-केवलं सामान्यं केवलो विशेषो चा, प्रमेयं चेदम् तत्सामान्यविशेषात्मकमेव ।

तथा चोक्तम्- स्यात् सामान्यम्, स्याद्विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम् । स्यात्सामान्यावक्तव्यम् स्याद्विशेषावक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यम् ।

इति सप्तभड्गनिर्लिपितत्वात् । तथा सति विरोधादिदोषाणामत्यसंभवात् । तथैव प्रतीयमानत्वात् ।

अर्थ- अब उभय प्रमाण का विषय है : वह उभय सापेक्ष है कि निरपेक्ष ? यदि उभय सापेक्ष है, तो सिद्ध साधन है । सापेक्ष सामान्य, विशेष को कथर्चित् तादात्म्य स्वीकार करने से एकत्र अभिन्न वस्तु में स्याद्वाद मतावलम्बियों द्वारा अंगीकार करने से उसी प्रकार प्रमाण सिद्ध है ।

तथा निश्चय से जीवादि तत्त्व सामान्य-विशेषात्मक ही है- प्रमेय हीमें से और जो सामान्य-विशेषात्मक नहीं है, वह प्रमेय नहीं है । जैसे- केवल सामान्य अथवा केवल विशेष । यह प्रमेय है- इसलिए सामान्य विशेषात्मक ही है ।

कहा है कि -

स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् उभय, स्यात् अवक्तव्य स्यात् सामान्य अवक्तव्य स्यात् विशेष अवक्तव्य और स्यात् सामान्य विशेष अवक्तव्य ।

इसप्रकार सप्तभंगी के द्वारा निरूपण किया गया है । ऐसा होने पर विरोधादि दोषों का होना भी असंभव है, क्योंकि वह प्रमेय कैसा ही प्रतीति में आता है ।

भावार्थ- प्रमाण का विषय सामान्य द्रव्य है कि विशेष ? इस विषय को स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार ने प्रमाण का विषय सामान्य है, प्रमाण का विषय विशेष है, इसप्रकार केवल सामान्य एवं केवल विशेष को स्वीकार करने वाले एकलत्वादियों के मत का नियकरण कर के जैन मत में सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को प्रमाण का विषय क्यों माना गया? इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि-

प्रमाण का विषय उभय है । वह उभय भी सर्वथा नहीं है, अपितु सापेक्ष है ।

स्याद्वाद मतावलम्बियों ने सामान्य और विशेष का कर्त्त्वचित् तादात्म्य मन्त्रन्थ स्वीकार किया है, अतः दोनों ही धर्म एक ही वस्तु में पाये जाते हैं । द्रव्यार्थिक नय द्वारा सामान्य धर्म विषयक बोध प्राप्त किया जाता है तो पर्यायार्थिक नय विशेष को विषय बनाता है ।

अनुमान से भी जैन पक्ष सिद्ध होता है । जीवादि तत्त्व सामान्य-विशेषात्मक ही हैं, क्योंकि वे प्रमेय होते हैं । जो प्रमेय होते हैं, वे सामान्य विशेषात्मक होते हैं ।

इस विषय में सप्तभंगी जाननी चाहिये ।

- जीवादि तत्त्व स्यात् सामान्य हैं ;
- जीवादि तत्त्व स्यात् विशेष हैं ;
- जीवादि तत्त्व स्यात् उभय हैं ।

- जीवादि तत्त्व स्थात् अवक्तव्य हैं ।
- जीवादि तत्त्व स्थात् सामान्य अवक्तव्य हैं ।
- जीवादि तत्त्व स्थात् विशेष अवक्तव्य हैं ।
- जीवादि तत्त्व स्थात् सामान्य विशेष अवक्तव्य हैं ।

इस प्रकार स्वीकार करने पर विरोधादि दायों की प्राप्ति नहीं होती तथा वस्तु तत्त्व की समीचीन सिद्धि होती है । प्रमेय की प्रतीति भी इसीप्रकार होती है, क्योंकि सामान्य निरपेक्ष विशेष अथवा विशेष निरपेक्ष सामान्य आजतक कहीं-कभी-किसी को द्वारा-किसी प्रकार से भी नहीं देखा गया है ।



उत्थानिका- स्वपतं प्रदश्येदानीं वैशेषिकाभिपतस्य निरपेक्षस्य सामान्य विशेषोभयस्य प्रमाणविधत्तं निराकरोति ।

अर्थ- स्वपत को प्रदर्शित कर के अब यहाँ वैशेषिकाभिपत निरपेक्ष सामान्य-विशेषोभय के प्रमाण विधवत्व का निराकरण करते हैं ।

34- निरपेक्षं चेदुभवं प्रमाणस्य विषयः, न, विरोधादिदोषोपनिपातात् ।

1- निरपेक्षोः सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिवेद भावाभावास्तपयो-
र्विरुद्धपर्योरकञ्जाभिन्ने वस्तुन्यसंभवात्, शीतोष्णवत् इति विरोधः ।

2- न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुर्महति, एकतारूपतापत्तेः ततो वैयाधिकरणयमपरम् ।

3- येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावस्थात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां स्वभावाभ्यां वा । एकेनैव चेत्, पूर्वापरविरोधात् । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां स्वभाव द्वयमधिकरोति तदानवस्था, तावपि स्वभावात्तराभ्यामिति ।

4- संकरदोषश्च, येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य,

विशेषरथ्य च । येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति ।

5- येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन च विशेषस्तेन च सामान्यपिति व्यतिकरः ।

6- ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः ।

7- ततश्चाप्रतिपत्तिः ।

8- ततोऽभाव ।

इति सामान्यविशेषयोः स्वतन्त्रयोः केनचित्प्रमाणेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्खारविषाणवदप्यमेयत्वम् । तन्म सामान्यविशेषयोः स्वतन्त्रयोरेकस्मिन्नापि वस्तुन्यवस्थितयोः पूर्माणविषवत्वम्, विरोधादिदोषेणाप्यमेयत्वात् । स्वाद्वादिनां तु जात्यज्ञर स्वीकरणेन कश्चिद्दोषो विषिद्धच्छेतसिन चकास्ति ।

अर्थ- क्या निरपेक्ष उभय प्रमाण का विषय है ? नहीं । विरोधादि दोषों का उपनियात होने से । [विरोधादि दोष प्राप्त होने से ।]

1- निरपेक्ष सामान्य विशेष का विधि-प्रतिषेध का, भावाभाव रूप का, विस्तु धर्म का, एकत्र अभिन्न वस्तु घे असंभव होने से विरोध है, शीत-ऊष्ण के समान ।

2- जो विधि का अधिकरण है, वही प्रतिषेध का अधिकरण नहीं हो सकता, एकलृप्ति की आपत्ति आने से, इसलिये यह दूसरा वैयाधिकरण दोष है ।

3- जो स्वरूप से सामान्य का अधिकरण है, वही विशेष का । उन दोनों को स्वाभाविक रूप से एक ही स्वभाव से अधिकरण करता है या दो स्वभावों से । एक ही स्वभाव से ऐसा कहते हो, तो वह योग्य नहीं है- पूर्वापर विरोध होने से । दोनों स्वभावों से दो स्वभावों का अधिकरण करता है, तो अनवस्था होगी ।

५- संकर दोष भी प्राप्त होता है। जिस अवस्था में सामान्य का अधिकरण होता है, उस में सामान्य और विशेष का अधिकरण होता है। जिस स्वरूप में विशेष का अधिकरण होता है, उस में सामान्य और विशेष का अधिकरण होता है। जिस स्वरूप में विशेष का अधिकरण होता है, उस में सामान्य और विशेष का अधिकरण होता है।

६- जिस स्वभाव से सामान्य होता है, उसी से विशेष होता है। जिस अभाव से विशेष होता है, उसी से सामान्य होता है, यह आहकर दोष है।

७- बस्तु के असाधारण आकार का निश्चय करने में अशक्य होने से विशेष दोष है।

८- इसी प्रकार अप्रतिपत्ति दोष भी आता है।

९- उस का अभाव भी है।

इस प्रकार सामान्य, विशेष स्वतन्त्र को किसी प्रमाण से प्रह्लाद करना अशक्य है, खरविधारण के समान अप्रमेयत्व होने से।

सामान्य विशेष का स्वतन्त्र रूप से एक बस्तु में अवस्थित न होने से वह प्रमाण का विषय नहीं है, विरोधादि दोषों के द्वारा, अप्रमेय होने से।

स्थानादी सामान्य विशेष को जात्यन्तर रूप से [कर्थस्ति-सामान्य-विशेषात्मक] स्वीकार करते हैं, इसलिए, विद्वानों के द्वारा कोई दोष देखा नहीं जाता।

भावार्थ- निरपेक्ष उभय प्रमाण का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उस में विरोध, वैयाधिकरण, अनवस्था, संकर, व्यतिकर संशय, अप्रतिपाति व अभाव नामक दोष होते हैं।

विरोध दोष- अभाव के साथ को अर्थात् अनुपलम्ब को विरोध कहते हैं इसके सहानुवस्था, वध्यधातक तथा प्रतिवध्य प्रतिबन्धकादि भेद हैं।

परम्पर विरुद्ध दो पदार्थ एकत्र नहीं रह सकते। दोनों को एकत्र

स्वीकार करने पर सहानुवस्था दोष होता है । निरपेक्ष उभय में विधि और प्रतिषेध, भाव और अभाव, लक् और अस्ति इन विस्तृद्ध धर्मों को एक एदार्थ में स्वीकार किया गया है, अतः वह विरोध दोष को प्राप्त होता है ।

वैयाधिकरण दोष- व्यधिकरण को वैयाधिकरण कहते हैं । इस का अर्थ है- भिन्न आधार या स्तर पर जीवित रहना ।

जो विधि का आधार है, वह निषेध का आधार नहीं हो सकता । जो निषेध का आधार है, वह विधि का आधार नहीं हो सकता । निरपेक्ष उभयवादी उभय का अधिकरण एक ही मानता है- इस से उन के एकलूपत्व की प्रतीति होती है, यह वैयाधिकरण मामक दोष है ।

3-अनुवस्था दोष- अप्रमाणिक पदार्थों की परम्परा से जो कल्पना होती है, उस कल्पना के विश्राम के अभाव को ही अनुवस्था कहते हैं ।

निरपेक्ष उभय में जो सामान्य का अधिकरण है, वही विशेष का भी है ।

यदि सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों को एक ही स्वभाव से अधिकरण करता है, ऐसा माना जाये तो वह अनुचित होगा, क्योंकि दोनों में पूर्वोपर विरोध पाया जाता है । यदि सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों को दो स्वभावों का अधिकरण मानने पर अनुवस्था दोष की प्राप्ति होगी, क्योंकि सामान्य यदि एक के आश्रित है, तो विशेष दूसरे किसी के, वह दूसरा किस के आश्रित है ? फिर वह किस के आश्रित है ? इसप्रकार उत्तरोत्तर अन्य-अन्य आश्रयों की अपेक्षा को कभी भी विश्राम प्राप्त नहीं होगा ।

4-संकर दोष- सम्पूर्ण स्वभावों की युगपत्याप्ति होने का नाम संकर है । निरपेक्ष उभय में जिस स्वभाव से सामान्य का अधिकरण होता है, उस में ही सामान्य और विशेष का अधिकरण होने से तथा जिस स्वभाव से विशेष का अधिकरण होता है, उस में ही सामान्य और विशेष का अधिकरण प्राप्त होने से संकर नामक दोष प्रकट हो जाता है ।

५-व्यतिकर दोष - व्यवस्थापक धर्मों का परस्पर में विषय गमन करना व्यतिकर दोष है। संकर और व्यतिकर दोष में अन्तर है। सम्पूर्ण स्वभावों की युगपत् प्राप्ति संकर है, तो विषयों का अन्योन्यानुप्रवेश व्यतिकर है।

निरपेक्ष उभय में वस्तु जिस स्वभाव से सामान्य होती है, उसी स्वभाव से विशेष होती है तथा वस्तु जिस स्वभाव से विशेष होती है, उसी स्वभाव से सामान्य होती है- अतः व्यतिकर दोष प्राप्त होता है।

६-संशय दोष- एक ही वस्तु के विषय में विरुद्ध नाना धर्मों के विशेषण से युक्त ज्ञान को संशय कहते हैं।

निरपेक्ष उभय पक्ष में वस्तु के असाधारण आकार का निश्चय नहीं हो पाता, अतः उस में संशय दोष है।

७-अप्रतिपत्ति दोष- अनुपलब्धि को अप्रतिपत्ति कहते हैं। निरपेक्ष उभय की सर्वत्र अनुपलब्धि है, फिर भी निरपेक्ष-उभयवादी उसे स्वीकार करता है, यह अप्रतिपत्ति दोष है।

८-अभाव दोष- स्वभाव का भावात्तर अभाव है अर्थात् धर्मों में विवक्षित धर्म का न रहना, अभाव है।

अस्तित्व में दोष का प्रसंग आने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती, यह अप्रतिपत्ति दोष होता है, जिस धर्म की अप्रतिपत्ति होती है, उस धर्म का नियम से अभाव होता है, अतः निरपेक्ष उभय में अभाव नामक दोष प्राप्त होता है।

किसी भी वस्तु में स्वतन्त्र रूप से सामान्य और विशेष नहीं पाया जाता है, अतः निरपेक्ष उभय प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। जैसे खरविषाण अप्रमेय होने से किसी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता, उसीप्रकार अप्रमेयभूत निरपेक्ष उभय प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

स्याद्वाद भतावलम्बी वस्तु को कथनित् सामान्य विशेषात्मक स्वीकार करते हैं, अतः उसे विरोधादि कोई भी दोष कल्पित नहीं कर सकते।

३५- अथेदमुच्यते, नैतदेवम्, इव्य-गुण-कर्म-यामान्य-किंशोप-समवायाः
षडेव पदार्थः परम्पर भिन्नाः तथा मति यथा यदा यः
पदार्थस्तिष्ठति तदा तदुभ्युखतया तदुत्त्वन् प्रधाणं तपेव
विषयीकरोति ।

अथेदमुच्यते, कथमपीषां भेदो येवं स्याहिति । अतः । बूम् -
इव्यादयः पदार्थः परम्पर भिन्नाः [भिन्न प्रत्यय विषयत्वात्] भिन्न
लक्षणलक्षितत्वात्, भिन्नकारणप्रभवत्वात्, भिन्नार्थक्रियाकारित्वात्,
भिन्नकार्यजनकत्वात् । शट्-पटवत् । य एवं त एवं दृष्टा; यथा शटादयः ।
एवं विधाश्चैते सर्वे । तस्मादेवविधा एव ।

तत्र न तावद् भिन्नप्रत्ययविषयत्वमसिद्धम्, इदं इव्यमित्यादिप्रत्ययानां
प्रतीयपानत्वात् । भिन्नलक्षणलक्षितत्वमपि नासिद्धम् ।

तथाहि -

क्रियावदगुणवत्समवायिकरणं इव्यम्

[वैशांशिक सूत्र । - । । ५] इति इव्यलक्षणम् ।

इव्याश्रया निर्गुणा गुणाः [तत्त्वार्थसूत्र ३/४] इति गुणलक्षणम् ।

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्जन गमन प्रसारणानि कर्माणि

[वैशांशिक सूत्र । - । । ७] इति कर्मलक्षणम् ।

अनेक-व्यक्तिनिष्ठं सामान्यम् ।

एक-व्यक्तिनिष्ठो विशेषः ।

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययलक्षणो यः सम्बन्धः [स] **समवायः** [प्रशस्तवाद् पृ० ६] इति भिन्नलक्षणलक्षितत्वं
सर्वेषामपि प्रसिद्धम् ।

**अभिन्नकारणप्रभवत्वं हनित्यानामेव, न तु नित्यानाम्, ततो न
भागासिद्धत्वम् ।**

सदकारणवनित्यम् [बैशाखिक मूलम् ४.३.१] उति नित्यलक्षणस्य व्यवस्थितत्वात् । भिन्नार्थक्रियाकारित्वं च विभिन्नकार्यजनकत्वादेव सिद्धम् । विभिन्नकार्यजनकत्वं चामीषामुभयवादिप्रसिद्धत्वादेव नासिद्धम् ।

ततश्चापि हेतुवो भासिद्धाः । नापि विसद्धाः, विष्णवृत्यभावात् ।
नाथनैकान्तिकाः, पश्च-सप्तश्वविद्यपश्चे वृत्यभावात् ।
नापि कालात्ययापदिष्टाः, पश्चस्य प्रत्यक्षादिबाधितत्वानुपपत्तेः ।
प्रत्यक्षादिबाधितेऽर्थे प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः

(न्यायमंजरी० पृ० १६७] उति वचनात् ।

नापि सत्यतिपक्षाः, प्रतिष्ठासाधनस्य कस्यचिद्प्रभावात् ।

ततः प्रत्येकं भेदेन द्रव्यादीनां प्रमाणस्य विषय इति ।

अर्थ - पूर्वपक्षः- यहाँ काइं कहते हैं कि ऐसा नहीं है । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-लिंगेष्य और समवाय ये हमें ही पदार्थ परस्पर भिन्न हैं । ऐसे होते हुए जैसे जब जो पदार्थ रहते हैं, तब उस की ओर उम्मख हो कर जो प्रमाण उत्पन्न होता है, वही विषय करता है ।

यहाँ कोई कहते हैं - इन का भेद किस प्रकार है ? सो हम बताते हैं । द्रव्यादि पदार्थ परस्पर भिन्न हैं, भिन्न प्रत्यक्ष के विषय होने से, भिन्न लक्षण से लक्षित होने से, भिन्न कारणों के द्वारा उत्पन्न होने से, भिन्न अर्थक्रियाकारी होने से, भिन्न कार्य का जनक होने से- घट, पट के समान जो जैसे होते हैं, वे वैसे ही दिखते हैं- जैसे घटादि । वे सब ऐसे ही हैं, इसलिए इस प्रकार ही हैं ।

वहाँ भिन्न प्रत्यक्ष का विषय असिद्ध नहीं है, "यह द्रव्य है" इत्यादि प्रत्ययों के द्वारा प्रतीयमान होने से ।

भिन्न लक्षण लक्षितत्व भी असिद्ध नहीं है । वह इस प्रकार क्रियावत् और गुणवत् समावाधिकरण को द्रव्य कहते हैं यह द्रव्य का लक्षण है ।

जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं, वे गुण हैं- यह गुण का लक्षण है।

उत्क्षेपण-अवक्षेपण-आकुचन-गमन और प्रसारण, ये कर्म हैं- यह कर्म का लक्षण है।

अनेक व्यक्तिनिष्ठ को सामान्य कहते हैं।

एक व्यक्तिनिष्ठ को विशेष कहते हैं।

आधार्य-आधारभूत अयुतसिद्धों का “यह है” इस प्रत्यय लक्षण का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है।

इस प्रकार भिन्न लक्षण से लक्षितत्व सभी जीवों में प्रसिद्ध है।

विभिन्न कारणों से उत्पन्न होना, अनित्य में ही संभव है, नित्य में नहीं, अतः भाग असिद्धत्व भी नहीं है।

सत् अकारणबत् होने से नित्य है यह नित्य का लक्षण व्यवस्थित है। भिन्नार्थकारित्व भी विभिन्न कार्यों का जनक होने से ही सिद्ध है। पदार्थों का विभिन्न कार्य-जनकत्व बादी और प्रतिवादियों में प्रसिद्ध होने से असिद्ध नहीं है।

इसलिए हमारे हेतु असिद्ध नहीं हैं। विपक्ष वृत्ति का अभाव होने से विरुद्ध भी नहीं है। पक्ष और सपक्ष के समान विपक्ष में भी वृत्ति का अभाव होने से अनैकान्तिक भी नहीं है। पक्ष का प्रत्यक्षादि के द्वारा बाधितत्व न होने से कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है।

प्रत्यक्षादि बाधित अर्थ में प्रवर्त्तन हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है- इस वस्त्र से।

प्रतिपक्ष साधन का अभाव होने के कारण सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है। इसलिए भेद के कारण प्रत्येक द्रव्यादि भिन्न-भिन्न प्रमाण के विषय हैं।

भावार्थ — यूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हुए वादी कहता है कि - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, क्रिशेष और समवाय ये छह पदार्थ हैं। वे छहों ही परस्पर भिन्न हैं। जब जो पदार्थ रहता है, तब उस की ओर उन्मुख हो कर जो प्रमाण उत्पन्न होता है, वह उस को विषय करता है।

भिन्न क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि-

- वे भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न प्रत्यय के विषय हैं।
- वे भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं।
- वे भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न लार्थ क्रियाकारी हैं।
- वे भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न कार्यों के जनक हैं।

जो जिस प्रकार होते हैं, वे वैसे ही होते हैं, यह तथ्य सर्वजनों में सुप्रसिद्ध है।

उन पदार्थों के प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि ये द्रव्य हैं, ये गुण हैं, ये सामान्य हैं, इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के द्वारा अनुभूति को प्राप्त होते हैं।

सभी पदार्थों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। पदार्थों के लक्षण इस प्रकार हैं-

जो क्रिया और गुण का समवायिकारण है, वह द्रव्य है। अथवा, जो द्रव्यत्व जाति वाला और गुणों वाला होता है, वह द्रव्य है।

- जो स्वयं द्रव्य के आश्रय से रहते हैं, जिन के आश्रय से अन्य कोई गुण नहीं रहता, वे गुण कहलाते हैं।
- जो संयोग से भिन्न हो और संयोग का असमवायिकारण होता है, उसे कर्म कहते हैं अथवा जो कर्मत्व जाति वाला है, वह कर्म है।

ग्रन्थकार ने कर्म की परिभाषा के रूप में कर्म का लक्षण प्रकट करने वाला सूत्र न दे कर कर्म के भेद प्रकट करने वाले सूत्र को उद्धृत किया।

है। इस से यह मिहुँ होता है, कि जो उत्तरण अवक्षेपण आधारभूत प्रमाण और गमन रूप हो, वह कर्म है।

- साधारण भाव को कहते हैं। यह अनेक व्यक्तिनिष्ठ होता है।
- जो एक ही व्यक्ति में पाया जाये, वह वर्य विशेष कहा जाता है।
- जो आधार्य के आधारभूत अयुत मिहुँ पदार्थों को “यह है” इस प्रकार का प्रतिभास कहता है, उस सम्बन्ध विशेष को समझाय कहते हैं।

इस प्रकार वे छहों पदार्थ भिन्न लक्षणों का द्वारा निश्चित होते हैं।

सत् अकारण होता है तथा नियमतः नित्य होता है। अनित्य पदार्थ नित्य ही उत्पन्न होते रहते हैं। उन के [छहों पदार्थों के] उत्पत्ति कारण भिन्न-भिन्न हैं। अतः वे भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं। ऐसा हमारा पक्ष सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न अर्थक्रिया होती है। घट की अर्थक्रिया जल धारण करना, अग्नि की अर्थक्रिया जलाना है, इत्यादिक अर्थक्रियाओं की भिन्नता वादी एवं प्रतिवादियों को इष्ट है।

प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्यों के अनक हैं, इस बात को वादी एवं प्रतिवादियों के द्वारा स्वीकृत किया गया है।

पूर्वपक्षवादी कहता है कि हमारा पक्ष असिद्ध, विरुद्ध, अनैकानिक कालात्मकापदिष्ट एवं सत्प्रतिपक्ष इन दोषों से विरहित है।

● असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः। [परीक्षाभूख- 6/22]

अर्थात् जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो, अथवा जिस हेतु की सत्ता का निश्चय न हो, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है।

वादी एवं प्रतिवादी को इष्ट होने से तथा मत्ता के सद्भाव का निश्चय होने से “वै पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं” यह पक्ष असिद्ध नहीं है।

● विपरीत निश्चयाविनाभावो विरुद्धः। [परीक्षाभूख- 6/29]

अर्थात्- साध्य सं विपरीत पदार्थ के साथ जिस का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित रूपेण होता है, उसे विरुद्ध कहते हैं।

“वे पट् पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं” यह हमारे पक्ष साध्य के स्वरूप सं विपरीत पदार्थों के साथ अविनाभावी नहीं है, अतः विरुद्ध नामक दोष से भी दूरित नहीं है।

● विष्णुप्रत्यविरुद्धवृत्तिरैकान्तिकः । [परीक्षामुख 6/30]

अर्थात् जिस का विष्णु के साथ भी अविरुद्धत्व है अर्थात् जो हेतु पक्ष और सपक्ष के समान विष्णु में भी किसी विशेष के रहता है, उसे अनैकान्तिक कहते हैं।

“वे पट् पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं”- इस पक्ष की सिद्धि में हमारे द्वारा उपस्थित किये गये हेतु पक्ष और सपक्ष के समान विष्णु में नहीं पाये जाते, अतः अनैकान्तिक भी नहीं है।

● जो हेतु प्रत्यक्षादि व्याधित पदार्थों में प्रवर्त्तमान रहता है, उसे कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है। हमारे युद्ध व्याधित हेतुओं में प्रत्यक्षादि के द्वारा व्याधितत्व भी नहीं है। अतः कालात्ययापदिष्ट दोष नहीं है।

● जो हेतु प्रतिपक्ष का साधक होता है, वह अत्यप्रतिपक्ष कहलाता है। हमारे द्वारा प्रतिपादित हेतु प्रतिपक्ष के साधक नहीं हैं, अतः उन में सत्प्रतिपक्षत्व भी नहीं है।

इन सभी हेतुओं से यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्यादि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं एवं वे भिन्न-भिन्न प्रमाण के विषय हैं।

आचार्यदेव स्वयं इस पक्ष का सदोषत्व सिद्ध करेंगे।



36. एतदपि न धीमद्वृतिकरं नैयायिकं [वैशेषिकं] अन्यथामत्तम्, द्रव्यादीनां सर्वथा भेदतस्यात् । यदि द्रव्याद्विनो गुणपदार्थः, तत्कस्मस्याय गुण इति व्यपदेशः । सम्बन्धाभावात् । तथोऽच

सम्बन्धः किं समवायः संयोगो वा । न तावत्सम्बन्धः, तस्यासिद्धेः ।
तदसिद्धिशब्दं तस्य विचार्यमाणस्थायोगात् । सर्वथा भेदे यः
सम्बन्धः स कथं नाम समवायो भवितुमहीनि, कुण्डबदरवत्,
[तद॑] संयोगस्य संधियात् ।

अर्थ - उत्तरपक्षः - "द्रव्यादि में सर्वथा भेद है" ऐसा मानने वाले नैयायिक और वैशेषिकों का यत बुद्धिमानों के लिए धैर्य करने वाला नहीं है। यदि द्रव्य से भिन्न गुणपदार्थ हैं, तो सम्बन्ध के अभाव में यह इस का गुण है- यह व्यषटेश कैसे हो सकता है? द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध समवायसम्बन्ध है कि संयोग-सम्बन्ध ?

द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि समवाय-सम्बन्ध को असिद्धि है। विचार करने वाले जीवों के लिए अस्पष्ट होने से, उस को असिद्धि है। सर्वथा भेद में जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय नाम को कैसे प्राप्त हो सकता है? कुण्ड और बदर के समान। अतः द्रव्य और गुण का संयोग-सम्बन्ध ही संभव है।

आवार्थ - नैयायिक एवं वैशेषिक गुण और द्रव्य को अलगता पृथक् मानते हैं। उन का मानना उचित नहीं है, क्योंकि यदि गुण द्रव्य से सर्वथा भिन्न हो तो "यह इस द्रव्य का गुण है, ऐसा कथम संभव नहीं है।

गुण और गुणी दोनों में कथाचित् अभेद है, क्योंकि दोनों का परस्पर में तादात्य सम्बन्ध है। गुण निराधार नहीं रह सकते और द्रव्य गुणहीन नहीं हो सकता, अतः दोनों में अभेदत्व मानना चाहिये।

विवक्षावशात् भेद भी स्वीकार किया गया है। वह विवक्षा चार प्रकार की है। द्रव्य और गुण ये संज्ञाएं भिन्न-भिन्न हैं, अतः द्रव्य और गुण में भेद है। द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, अतः द्रव्य और गुण में भेद है। द्रव्य और गुण की संख्या में भिन्नता है, अतः द्रव्य और गुण में भेद है। द्रव्य आधार है और गुण आधेय है, अतः द्रव्य और गुण में भेद है।

यदि सर्वथा भेद माना जाये, तो उन में तादात्य सम्बन्ध नहीं हो

सकेंगा । तब मात्र दो सम्बन्धों के विषय में विचार करना पड़ेगा । सर्वथा ऐद रूप गुण और द्रव्य में समवाय सम्बन्ध है कि संयोग सम्बन्ध ?

उन दोनों में समवाय सम्बन्ध नहीं होता । ऐसा स्वभाव ही है । लोक में भी कुण्ड और बदर में समवाय सम्बन्ध नहीं देखा जाता ।

अतः दोनों में संयोग सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा ।



3. अथ द्रव्य गुणायोरयुतसिद्धत्वेन समवायस्यैव संभवान् संयोग इति । अत्रायुतसिद्धत्वं नाम किमपृथक् सिद्धत्वम् कि पृथक्कर्तृपशक्यत्वं वा, कि कथंचित्तादात्म्यं वा इति विकल्पश्यमवतरति ।

प्रथमपक्षे, जलानिलादीनामप्यपृथक् सिद्धत्वेन समवाय प्रसङ्गादेकत्वं स्यात् । तथा च सति [तत्र द्रव्याणि]

पुथिव्यज्ञेजोवाच्चाकाश-दिग्गत्य-काल-मनासि [नवैव] ।

[प्रशस्तपाद भाष्य- पृ० 14] इति ग्रन्थविरोधः ।

रूपरसादीनामप्यपृथक् सिद्धत्वेन परस्परं भेदाभावात् चतुर्विंशतिरुणा: [प्रशस्तपाद भाष्य-पृ० 3] इत्यस्यापि विरोधः । तन्नाद्यः यक्षः श्रेयान् ।

नायि द्वितीयः, तस्यापि विचार्यमाणस्यशतथा विशीर्यमाणत्वान् विचारचतुरच्छेत्सांचेत्सिवर्वर्ति ।

तथाहि-पृथक्कर्तृपशक्यत्वं हि द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानामप्यस्ति, तेषाम्यपि भेदाभावः प्रसंगात् । द्रव्यादयः षड्कर्यादर्थाः परस्परं भिन्नाः इति प्रतिज्ञा हीयते ।

अर्थ - यदि आप ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध होने से, उन का समवाय-सम्बन्ध ही संभव है, संयोग-सम्बन्ध संभव नहीं है, तो वह अयुतसिद्धत्व क्या अपृथक्सिद्धत्व है ? क्या पृथक् करने में अशक्य

है ? क्या कथोचित लाभार्थ है ? इस प्रकार तीन विकल्पों का अवलम्बन होता है ।

प्रथम पक्ष में [अपृथक् सिद्धत्व में] जल और अनिलादि का भी अपृथक् सिद्धत्व होने से समवाय-सम्बन्ध के द्वारा एकत्व का प्रसंग आयेगा और ऐसा होन पर पृथक्-जल-अग्नि-बायु-अवज्ञा-द्विष्ट-उत्ता-काल और मन; ये तीन द्रव्य हैं। यह ग्रंथ का विरोध होगा ।

रूप और रसादि का भी अपृथक्-सिद्धत्व होने से परस्पर में भेद का अभाव होने के कारण गुण और्कीम होते हैं इस का भी विरोध हो जायेगा, अतः आद्य पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

द्वितीय पक्ष [पृथक् करने में अशक्यत्व है] भी उचित नहीं है । उस के भी तीन भागों में दुकड़े होने से विचार करने वाले विचारचालुरचेता के चित्त में बह बहता नहीं है ।

तथा, पृथक् करने में अशक्यत्व निश्चय से जो द्रव्य-गुण-कर्म-सम्बन्ध-विशेष और समवायों का भी होता है, क्योंकि उन में भी भेदों के अभाव का प्रसंग है । अतः इत्यादि छह पदार्थ परस्पर भिन्न हैं, यह आप की प्रतिज्ञा दूषित हो जाती है ।

भावार्थ - नैयायिक एवं वैरोधिक दोनों ही द्रव्य को गुणों से सर्वथा पृथक् पानते हैं एवं गुण और द्रव्य का वे समवाय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । पूर्व प्रकरण में ग्रंथकर्ता ने स्पष्ट किया कि सर्वथा भेद होने पर संयोग सम्बन्ध हो सकता है, समवाय सम्बन्ध नहीं ।

फिर भी समवाय सम्बन्ध के प्रति आग्रहशील वादियों के समक्ष आचार्य पूछते हैं कि ग्रंथकर्ता ने तीन प्रकार के विकल्प अवलम्बित किये हैं । आचार्य देव प्रश्न करते हैं कि ।

यदि आप द्रव्य और गुण को अयुतसिद्ध होने से समवाय सम्बन्ध मानते हैं, तो हमें लक्षाओं कि ।

१. वह अयुतसिद्धत्व क्या अपृथक् सिद्धत्व है ?
२. वह अयुतसिद्धत्व क्या पृथक् करने में अशक्य है ?
३. वह अयुतसिद्धत्व क्या कथावत् तात्पर्य है ?

यदि आप कहते हैं कि वह अयुत सिद्धत्व अपृथक् है, तो जल और अग्नि में भी अयुत सिद्धत्व होने से उन में समवाय-सम्बन्ध के कारण एकत्व आ जायेगा और ऐसा होने पर आप का आगम विचार को प्राप्त होगा, क्योंकि आपने पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-दिशा-आत्मा-क्रात्रि और मन ये नींद्रल्य माने हैं।

इसी तरह आपने धौधोम गुण स्वीकार किये हैं। रूप रसादि गुण भी अयुतसिद्ध हैं, अतः समवाय सम्बन्ध के द्वारा एकत्व को प्राप्त हो जाने के कारण उन में संख्या-व्यभिचार का प्रसंग आयेगा।

यदि आप कहते हैं कि वह अयुतसिद्धत्व पृथक् करने में अशक्य है, सो भी उचित नहीं है, क्योंकि विचार चतुर छेता के मन में यह बात ठहरती नहीं है। द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय ये छह पदार्थ आपने माने हैं। उन को भी पृथक् करना असंभव है। अतः समवाय सम्बन्ध के द्वारा एक होने से “पदार्थ छह हैं” आप के इस प्रतिज्ञा की हानि होती है।

दूसी तात्पर्य विकल्प तो त्रिकाल में सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तात्पर्य सम्बन्ध होने पर समवाय सम्बन्ध व भेद की कल्पना व्यर्थ ठहरती है।

अतः द्रव्य और गुण का समवाय सम्बन्ध नहीं है।



38. स्वान्मतिरेषा ते वातातपादीनां पृथक्तृपशक्यत्वे भेदाभावप्रसङ्गः, तयोरप्ययुतसिद्धत्वे स्यात् । यद्येवम्, किं तर्हि नैतावता अयमतिप्रसङ्गोऽ-

भवतामपि बाधकः । न हुनेनास्माकं बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते ।
तस्मात्पृथक् तु मशक्यत्वमयुतसिद्धत्वं न सिद्धिमधिवसति ।

नापि कथचित्तादात्म्यम्, द्रव्यगुणथोः कथचिदभेदप्रसङ्गात् ।
कथचित्तादात्म्ये हि जैनमतप्रसङ्गेन षडेव पदार्थः परस्पर भिन्नाः
इति प्रच्यवते । ततश्च समवायस्य कथचित्तादात्म्यमन्तरेणासिद्धेः
कथमस्य द्रव्यस्यार्थं गुण इति व्यपदेशः सिद्धयेत् । तत्त्वं षडेव पदार्थः
परस्पर भिन्नाः प्रमाणस्य विषयाः इति, किन्तु गुण-गुणवात्मकं,
सामान्य-विशेषात्मकं, द्रव्य-पर्यायात्मकं जात्यन्तरं प्रमाणविषयत्वेन
सिद्धमिति ।

अर्थ - जिन की ऐसी वर्ति है, जो आत और अहान आदि को पृथक् आने
में अशक्य होने से भेदभाव का प्रसंग आयेगा, उन दोनों में अयुतसिद्धत्व
है । यदि ऐसा है तो फिर क्यों? इसप्रकार यह अतिप्रसंग आप को भी
बाधक नहीं है । इस से हमारे बालाग्र को भी खण्डित करना शक्य नहीं
है । अतः पृथक् करने में अशक्यत्व की सिद्धि नहीं होती ।

कथचित् तादात्म्य भी नहीं है, द्रव्य-गुण में कथचित् अभेद का प्रसंग
होने से । कथचित् तादात्म्य मानने पर जैन मत का प्रसंग आने से द्रव्यादि
छह पदार्थ परस्पर भिन्न हैं इस बात से आप चूत हो जाते हो । उस
समवाय का कथचित् तादात्म्य के बिना असिद्धत्व है । “इस द्रव्य के ये
गुण हैं” यह व्यपदेश कैसे सिद्ध होगा? इसलिए छह ही पदार्थ परस्पर
भिन्न हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रमाण के विषय हैं ऐसा नहीं है, किन्तु
गुण-गुणीरूप, सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक जात्यन्तर प्रमाण
विषयत्व से सिद्ध है ।

भावार्थ - अयुतसिद्ध के विषय में ग्रंथकर्ता ने तीन विकल्प प्रस्तुत किये
थे । पूर्व प्रकरण में यह सिद्ध किया गया कि अयुतसिद्धत्व अपृथक् नहीं
हो सकता । पृथक् करने में अशक्य है - ऐसा भी कहना, उचित क्यों नहीं
है - यह विषय चल रहा है । ग्रंथकर्ता कहते हैं कि ..

काल [वायु] आतप [ऊपरनाह] इन दोनों को भी पृथक् करना संभव नहीं है, अतः उन में भद्राभाव का प्रसंग आयेगा, क्योंकि उन दोनों में अनुत्त सिद्धत्व है। यदि आप इन दोनों को पृथक् स्वीकार करते हैं, तो पृथक् करना शक्त्य नहीं है—ऐसे अनुत्तसिद्धत्व के हानि में समवाय सम्बन्ध होता है—इम परिज्ञा का आध के स्व-बचनों में ही तीष्ण हो गता है।

द्रव्य और गुण में कथोचित् तादात्पर्य है, इस त्रुतीय विकाल्प को भी आप स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इस से स्व-मत विरोध तथा परमत सिद्ध हो जायेगी। कथोचित् तादात्पर्य मानने पर “द्रव्यादि पदार्थ परम्पर में सर्वथा भिन्न है” यह आपका मत स्व-बचनों से ही खण्डित हो रहा है, क्योंकि कथोचित् तादात्पर्य में कथोचित् अभेदत्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

द्रव्य और गुण में कथोचित् तादात्पर्य को स्वैरात्मक हास्य की सिद्धि का प्रसंग आता है, क्योंकि जैवदर्शन गुण और गुणी में कथोचित् अभेद व कथोचित् भेद स्वीकार करता है।

यदि आप कथोचित् तादात्पर्य स्वीकार न करें, तो भी आध का पक्ष असिद्ध ही रह जाता है, क्योंकि कथोचित् तादात्पर्य विना समवाय की सिद्धि नहीं हो सकती। इस द्रव्य के ये गुण हैं— इत्यादि कथन किये नहीं जा सकते।

मारोश यह है कि—छहों पदार्थ परम्पर भिन्न हैं एवं वे भिन्न भिन्न प्रमाण के विषय हैं। यह मत निरकृत हो जाता है। वस्तुतः गुण गुणीरूप, मामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य पर्यायरूप जात्यन्तर, प्रमाण विषय से निर्द्ध होते हैं।



उत्थानिका— परम छहा एव प्रमाणस्य विषय इति वेदान्तिना मत विस्तरत उपन्यस्य तत्समालोचयति—

अर्थ— परम छहा ही प्रमाण का विषय है, ऐसा मानने वाले वेदान्तिनों के मत का विस्तार में कह कर उस की समालोचना करते हैं—

३९. ननु परब्रह्मण एवं कस्य परमार्थतो विधिरूपस्य
विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम्, अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिद्व्यभावात् ।

तथाहि - प्रत्यक्षं तदादेहस्यस्ति । प्रत्यक्षं हि ज्ञानं भिन्नम्,
निर्विकल्पं सविकल्पभेदात् ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्सम्बन्ध-
विषयात्तस्यैकस्येव सिद्धिः ।

तथा चोक्तम् -

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बाल-मूकादि-विज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥

[मीमांसा शतोकवार्तिका-प्रत्यक्षसूत्र, श्लोक - 120]

अर्थ - यूनेपक्षः - एक पर ब्रह्म ही परमार्थ से विधिरूप विद्यमान होने के
कारण प्रमाण का विषय है, परब्रह्म से भिन्न सभी का अभाव होने से ।

तथा निश्चय से, प्रत्यक्ष उस का ही आवेदक [कथन करने वाला]
है । प्रत्यक्ष भी दो भेदो वाला है - सविकल्प प्रत्यक्ष और निर्विकल्प प्रत्यक्ष । उस भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष से सम्बन्ध विषय होने से उस एक
ब्रह्म की ही सिद्धि होती है ।

कहा है कि -

प्रथम ही जो सत् सापान्य के अवलोकन रूप आलोचना ज्ञान
उत्पन्न होता है, वह निर्विकल्पक है, बालक और मूकादि के सदृश
है तथा शुद्धवस्तु जनित है ।

भावार्थ - ब्रह्मद्वैतवादी वेदान्तियों ने परम ब्रह्म को ही प्रमाण का विषय
स्वीकार किया है । उन का कथन है कि:-

परम ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । अतः परम ब्रह्म ही प्रमाण
का विषय है और निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा उस का कथन होता है अर्थात्
सम्पूर्ण विकल्पों से रहित शुद्ध सत्ता मात्र ही परमब्रह्म का स्वरूप है ।

पूर्वपक्षकार कहता है कि ननु च प्रत्यक्षेषेव परमब्रह्म साध्य कम्, अक्षिविस्फालनानन्तर निषेधकल्पकस्य सन्मात्रविधि विषयतयोत्यतः, सत्तायाश्च परमब्रह्मस्वरूपत्वात्

[सत्यशासन परीक्षा ।/। 7]

अर्थात् - प्रत्यक्ष ही परमब्रह्म का साधक है, क्योंकि आख्यातानन्तर सर्व विकल्पों से रहित सत्तामात्र स्वरूप ज्ञाते विधि को विषय करने से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है ; वह सत्ता ही परम ब्रह्म का स्वरूप है ।

इस भत की समीक्षा स्वयं ग्रंथकार विस्तार पूर्वक करेंगे ।



40. न च विधिवत्यरस्परव्यावृत्तिरव्यध्यक्षतः प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः, तस्य निषेधाविषयत्वात् ।

तथा चोक्तम् ।

आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेधू विपश्चितः ।

नैकत्वे आगमस्त्वेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥

[ब्रह्मसिद्धि, तर्कपाद श्लोक- ।]

अर्थ - विधि के समान परस्पर व्यावृत्ति भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है, ऐसी द्वैतसिद्धि नहीं है । उस के निषेध का विषय नहीं होने से,

कहा भी है कि -

बुद्धिमान् प्रत्यक्ष को विधिरूप कहते हैं, निषेधरूप नहीं । इस कारण एकत्व ब्रह्माद्वैत को सिद्ध करने वाला आगम प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है ।

भावार्थ - प्रत्यक्ष प्रमाण विधि को अर्थात् सत्तामात्र को ही विषय करने वाला है, निषेध को नहीं, उस से ब्रह्माद्वैत का निषेध नहीं किया जा सकता - यह कथन भी उचितता को श्रेणि में नहीं आता है । यदि ऐसा

माना जावे कि प्रत्यक्ष केवल विभिन्न है, तो उसके द्वारा निषेध पक्ष भी स्वीकार किया गया, क्योंकि विधि की प्रतिपत्ति, विधि से अतिरिक्त धर्मों की निषेध स्थिर ही कर रही है। यहाँ केवल भूतल है, ऐसे विधि रूप कथन करते पर भी यहाँ भूतल के अतिरिक्त घट-पटादि द्रव्य नहीं हैं, इस निषेध पक्ष का कथन हो जाता है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि विधि धर्म का वाधक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा यदि अद्वृतवादी स्वीकार करते हैं, तो निषेध धर्म का वाधक कौन सा प्रमाण है? यदि कोई प्रमाण है, तो उत्तर एवं वह इस लिह द्वारा प्रमाण हो जायेगा। दोनों के मिन्न-मिन्न प्रमेय हानि से। इस से द्वृत पक्ष ही उत्पन्न होगा। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि निषेध धर्म का प्रतिवाधक अन्य प्रमाण नहीं है, अपितु विधि की प्रतिपत्ति से ही निषेध धर्म के अभाव की प्रतिपत्ति हो जाती है, तो प्रत्यक्ष विधि को ही ग्रहण करता है, निषेध को नहीं, यह पक्ष एवं वाचन वाचित इस दृष्टि में युक्त हो जायेगा।

●
41. यद्यु सविकल्पकं घट-पटादि भैद्र साधकं तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताद्वृतस्यैव साधकम् सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्।

तदप्युक्तम् - यद्वृतं ब्रह्मणो रूपम् इति।

अनुमानादपि तत् सदभावो विभाव्यत एव। तथाहि-विधिरेव तत्त्वम्-प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनेव प्रख्युनेः।

तथा ओक्तम्-

प्रत्यक्षाद्यवत्तारः स्याद् भावांशो गृह्णते यदा।

व्याधारे तदनुत्पत्तेभावांशो जिधृक्षते॥

(मीमांसा श्लोक वार्तिक पृ. 478)

आर्थ - जो सविकल्प प्रत्यक्ष है, वह व्यादि भेदमाध्यक है, फिर भी सत्ता रूप से अनिवार्य उन द्रव्यों का प्रकाशक होने से सत्ता अद्वैत का ही साधक है और वह सत्ता परम ब्रह्म रूप है।

कहा भी है - जो अद्वैत है, वह ब्रह्म का रूप है।

अनुमान से भी परम ब्रह्म का स्वरूप जाना जाता है। वह इस प्रकार-विशिष्ट ही तत्त्व है, प्रमेय होने से। जो प्रमाण का विषयभूत अर्थ है, वह प्रमेय है प्रमाण भी प्रत्यक्ष अनुमान-उपमान-आगम-अर्थापत्ति नामक भाव विषयत्व से ही प्रवृत्त है।

कहा है कि :-

जब भावांश [भावरूप पदार्थ] ग्रहण किया जाता है, तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है और जब अभावांश को जानने की इच्छा हो तो उस में प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ - प्रमाण के छह भेद भीमासकों ने स्वीकृत किये हैं- प्रत्यक्ष अनुमान-उपमान आगम-अर्थापत्ति एवं अभाव। इन में से अभाव प्रमाण को छोड़ कर शेष पाँच प्रमाण भाव स्वरूपी हैं। उन का स्वरूप इस प्रकार है-

1. प्रत्यक्ष प्रमाण : सन्निकर्ष के उपरान्त उत्पन्न होने वाला ज्ञात प्रत्यक्ष है। इस के सविकल्प एवं निविकल्प ऐसे ही भेद हैं।

2. अनुमान प्रमाण : साध्य से साध्य का ज्ञान, अनुमान है।

3. उपमान प्रमाण : प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य के साधन को उपमान कहते हैं।

4. आगम प्रमाण : वेद नित्य च अपौरुष्य है अतः वह प्रमाण है।

5. अर्थापत्ति प्रमाण : अनुकूल वस्तु का ज्ञान अर्थवशान् हो जाये, वह अर्थापत्ति है। जैसे जिनदत्त रात्रि में भोजन नहीं करता। इस वाक्य में दिन में भोजन करता है यह अनुकूल है फिर भी ज्ञात हो जाता है।

पूर्व प्रकरण में निविकल्प प्रत्यक्ष से परम ब्रह्म की सिद्धि की गई है। सविकल्प प्रत्यक्ष भेद साधक है। अतः वह यह पट है—यह पट है इत्यादि रूप से भेदों को ग्रहण करता है। वे भेद रूप सर्वद्रव्य सत्ता से अन्वित हैं और सत्ता परम ब्रह्म म्ब्रह्म है। अतः सविकल्प प्रत्यक्ष भी परमब्रह्म का आवेदक है।

जो प्रमाण का विषय भूत अर्थ है, उस को प्रमेय कहते हैं। “प्रमेय होने में” यह साधन वाक्य है। इस के द्वारा साध्यरूप विधि तत्त्व की सिद्धि होती है। अतः अनुमान में भी परम ब्रह्म जाना जाता है।

अतः परमब्रह्म को ही प्रमाण का विषय स्वीकार करना चाहिये। ब्रह्मवादियों के मत की परीक्षा ग्रंथकार स्वर्ण कर रहे हैं।



**उत्थानिका - पूर्वपक्षी भीमासकाभिमतयभावप्रमाणं तद्विषयमधावं च
निराकुर्वन् विधितस्वप्रेष ग्रसाध्यति-**

अर्थ - पूर्वपक्षी भीमासकाभिमत अभाव प्रमाण और अभाव प्रमाण का विषय अभाव को निराकरण कर के विधि-तत्त्व को ही कहते हैं—

42. यज्ञाभावाख्यं प्रमाणम्, तस्य प्राप्ताण्याभावात् न तत्प्रमाणम्
तद्विषयस्य कस्यचिदप्याभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव,
तेऽनेव प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्। यस्तु न
विधिरूपं तत्र प्रमेयम् यथा-खरविषाणाम्। तथा चेदं प्रमेयं निखिलं
यस्तुरूपम् तस्याद्विधिरूपमेव।

अतो वा तत्सिद्धः - ग्रामारामादयः पदार्थः प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः;
प्रतिभासमानत्वात्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थः
तस्मात्प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः।

आगमोऽपि तदावेदकः समुपलभ्यते-

पुरुष एवेदं सर्वं, यदभूतं यज्ञं भाव्यम्।

[ऋक् सू. 10 सू. 90 अ. 2] इति।

श्रोतव्योऽयमात्मा निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्यः [बृहदारण्यक 2-4-5] इत्यादि वेदवाक्यैरपि तत्त्वाद्देः। कृत्रिमेणाप्यागमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च-

सर्वं वै खल्लिदं ब्रह्म। [छान्दोग्योपनिषद् 3/14/1]

नेह नानासित किञ्चन। [बृहदारण्यक 4/4/1]

आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चनः।

[बृहदारण्यक 4/3/14] इति

अर्थ - जो अभाव नामक प्रमाण है, उस के प्रामाण्य का अभाव होने से वह प्रमाण नहीं है, उस के विषय का कुछ भी अभाव है। जो प्रमाण पंचक का विषय है, वह विधि ही है, क्योंकि उसी रूप प्रमेयत्व व्याप्त है। प्रमेयत्व के द्वारा विधिरूप तत्त्व ही सिद्ध होता है। जो विधिरूप नहीं है, वह प्रमेय नहीं है जैसे- खरविषाण। ये निखिल प्रमेय वस्तु रूप हैं, अतः विधिरूप ही हैं।

अन्य प्रकार से उस की सिद्धि करते हैं। ग्राम-आराम [उपवन] आदि पदार्थ प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट होने से प्रतिभासमान् हैं। जो प्रतिभासित होते हैं, वे प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट ही होते हैं। जैसे- प्रतिभासस्वरूप। ग्राम आरामादि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। अतः वे प्रतिभासान्तः प्रविष्ट हैं।

आगम भी उस का कथन करते हुए उपलब्ध होता है-

पुरुष ही यह सब है-या और होगा।

यह आत्मा ही श्रोतव्य, निदिध्यासितव्य और अनुमन्तव्य है।

इत्यादि वेदवाक्यों से भी उस की [विधिरूप परमब्रह्म की] सिद्धि होती है। कृत्रिय आगम से भी उसी का प्रतिपादन किया गया है।

कहा है कि-

1. वास्तव में सब एक ही ब्रह्म है।

2. यहाँ नाना कुछ भी नहीं है।

3. सभी उस की पर्यायों को देखते हैं, उस को कोई नहीं देखता।

भावार्थ - अभाव प्रमाण के विषय का अभाव होने के कारण से अभाव प्रमाण के प्राप्ताण्य का ही अभाव है। अभाव के अतिरिक्त प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-आगम तथा अर्थात् ये प्रमाण पर्याक विधिरूप तत्त्व को ग्रहण करते हैं, क्योंकि तत्त्व विधि रूप ही है। अतः प्रमेय विधि रूप होने के कारण प्रमाण भी विधि रूप ही है।

जो प्रमेय विधिरूप नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है। जैसे गधे के सींग।

जो विद्यमान होते हैं, वे प्रतीति में भी आते हैं। अभाव प्रतीतिका विषय नहीं है। अतः उस को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

प्रमाण पर्याक का विषय विधि है एवं विधि ही परम ब्रह्म है अतः प्रमाणों के द्वारा परम ब्रह्म सिद्ध हो जाता है।

आगम प्रमाण से भी एक परम ब्रह्म की सिद्धि होती है। आगम दो प्रकार के हैं अकृत्रिम व पौरुषेय।ऋग्वेद-सामवेद-अथर्ववेद व यजुर्वेद इन को किसी पुरुष ने नहीं लिया है, अतः ये आगम अकृत्रिम या अपौरुषेय कहलाते हैं। उपनिषद् शास्त्रों की संख्या अबतक निश्चित नहीं हो पायी है। लगभग 200 से अधिक उपनिषद् वर्तमान में उपलब्ध हैं। उन की रचना किसी ने की है। अतः उन्हें पौरुषेय या कृत्रिम कहा जाता है।

ये दोनों ही आगम परम ब्रह्म का कथन करते हैं।



उत्थानिका - कि च, अन्यतोऽपि अनुमान-

अर्थ - कि च, अन्य प्रकार से भी उस का अनुमान-

43. प्रधाणतस्तत्वयैव सिद्धः। परम पुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदाना तद्विविर्तत्वात्।

तथाहि - सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः सत्त्वकरूपेणान्वितत्वात्। यद्यद्युपेणान्वितं तत्त्वदात्मकमेव, अथाऽघट-घटी-शाराबोज्जनादयः मृदुरूपेणैकेनान्वितत्वान्मृद्विवर्ताः, सत्त्वकरूपेणान्वितं सकलं वस्तिवति सिद्धं ब्रह्मविवर्तत्वं निखिलभेदानापिति।

अर्थ - प्रमाण से उस की ही सिद्धि होती है। परम पुरुष एक ही तत्त्व है, सकल भेद उस में वर्तन करने वाले होने से।

बह इस प्रकार - सत्त्व के एक रूप से अन्वित होने के कारण सर्वभाव ब्रह्मविवर्त [पर्याय] हैं। जो-जो जिस रूप से अन्वित है, वह वह उसी रूप होता है। जैसे घट-घटी-थाली-ढक्कन आदि मृदुरूप एक से अन्वित होने के कारण मृद्विवर्त हैं, उभी प्रकार सत्ता के एक रूप से अन्वित सम्पूर्ण भेदों से युक्त वस्तु ब्रह्मविवर्त सिद्ध होती है।

भावार्थ - ब्रह्माद्वैतवादी अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहता है कि... प्रमाण उस परमब्रह्म को सिद्ध करता है, क्योंकि परम पुरुष एक ही तत्त्व है, घट-घट-मनुष्यादि समस्त भेद उसी में ही वर्तन करने वाले होते हैं। पृथ्वी आदि ब्रह्म के ही विवर्त हैं, ब्रह्म से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। इस चराचर संसार की उत्पत्ति इसी ब्रह्म से ही होती है। एक ही ब्रह्म अनेक जड़ और चेतन द्रव्यों में जल में पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देता है। अतः ब्रह्म सत्य है एवं जगत् माया है। सभी वस्तुओं को ब्रह्म का विवर्तत्व मानने वाला ब्रह्मवादी कहता है कि- जो जिस-जिस के साथ अन्वय को प्राप्त होता है, वह उस-उस रूप ही होता है। जैस कि- घट-घटी-थाली-ढक्कन आदि पदार्थ मृदा रूप से अन्वित होने के कारण मृदारूप ही हैं, अर्थात् मृद-विवर्त हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण भेदों से युक्त वस्तु सत्ता के एक रूप से अन्वित होती है, अतः वह ब्रह्मविवर्त ही है।

इस मत की समीक्षा गंधकार आगे स्वयं ही करेंगे।

44. यदु रथते, तत्सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदो दिनपिव
मदनकोद्रवाद्युपयोगजनितव्यापोहभुग्धविलसितमिव निखिलमवभासते,
विचारासहत्यात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धेन वचना किञ्चित्सिद्धिमध्ये
वसति। अद्वैतमते प्रमाणप्रप्ति नास्ति। तत्सद्भावे द्वैतप्रसंगात्, अद्वैतसाध
कस्य प्रभाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्।

अर्थ - अब कहते हैं कि सब मदिरा रस के आस्वाद से गदगद हो कर
कथन करने के समान है। मदन-कोद्रवादि उपयोग जनित व्यापोह से भुग्ध
हुए जीव के विलास के समान उन सब का अवभासन होता है, विचार के
लिए असह्य होने से। प्रमाण सिद्ध समस्त वस्तु वचन के द्वारा किञ्चित् सिद्ध
को प्राप्त होती है। अद्वैतमते में प्रमाण भी नहीं है। प्रमाण का सद्भाव
मानने पर द्वैत का प्रसंग आयेगा, अद्वैतसाधक द्वितीय प्रमाण का सद्भाव
होने से।

भावार्थ - परम पुरुष एक ही तत्त्व है, सकल भेद उस में समाविष्ट हो
जाते हैं। ऐसा ब्रह्माद्वैतवादियों का कथन मदिरा को पीने के कारण मस्तु हुए
मनुष्य के द्वारा उन्मत्त प्रलाप के समान है।

जो वस्तु प्रमाण से सिद्ध होती है, उसी वस्तु की वचन के द्वारा सिद्ध होती
है। अद्वैतमते में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह एकमात्र ब्रह्म को ही
स्वीकार करता है। यदि वह [अद्वैत प्रतावलम्बी] ब्रह्म के अतिरिक्त प्रमाण
को भी स्वीकार करने लग जाये तो ब्रह्म और प्रमाण इस प्रकार द्वैत का
प्रसंग आ जायेगा और ऐसा होने पर प्रतिज्ञाहानि होगी। अतः अद्वैतमतियों
के वचन विचार की कोटि में समाविष्ट नहीं हो सकते।

इस तरह ब्रह्मवादियों के द्वारा कथित वचन विलास वन्ध्यापुत्र के स्वरूप
कथन करने के समान निरर्थक हैं, क्योंकि वह प्रमाणसिद्ध नहीं है—द्वैत का
प्रसंग प्राप्त होने से। भाव ग्रामण से अद्वैतसिद्धि स्वीकार करने पर स्वप्न
में देखे गये भुए से वास्तविक अग्नि की उपलब्धि का प्रसंग आयेगा।

45. अथ पतय्, लोक प्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रभाणमभ्युपगम्यते, तदेतदतिशयेन बालविलसितम्, त्वन्यते लोकस्यैवासंभवात्। एकस्यैव नित्य निरंशस्य परब्रह्मण सद्भावात्।

अथास्तु यथाकथंचित्प्रमाणम्हि, तकिं प्रत्यक्षपनुमानप्रमाणो वा तत्साधकं प्रमाण मुररीक्रियते। न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य समस्तवस्तुजातमतभेदस्यैव प्रकाशकत्वाद्, अब्ला-बाल-गोपालानां तथैव प्रतिभासनात्।

अर्थ - यदि ऐसा मत है कि लोक प्रबोधन की अपेक्षा से हम प्रमाण को मानते हैं, तो वह अतिशय रूप से बालकों का विलास है, आप के मत में लोक की असंभवता होने से। एक-नित्य-निरंश परम ब्रह्म का ही सद्भाव होने से।

अब जैसे कथीचित् कोई प्रमाण भी होवें। प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम में से ब्रह्म साधक प्रमाण किसे स्वीकार करते हो? ब्रह्मसाधक वह प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है, वह समस्त वस्तु समुदायगत भेद का प्रकाशक होने से। अब्लाओं को बालकों को एवं गोपालों को वह प्रत्यक्ष प्रमाण उसी प्रकार ही प्रतिभासित होने से।

भावार्थ - जैनाचार्य अद्वैतवाद को प्रमाणासिद्ध घोषित करते हैं-प्रमाण व प्रमेय इस द्वैत का प्रसंग आने से अद्वैत नहीं है। तब ब्रह्माद्वैतवादी कहता है कि लोक-प्रबोधन करने के लिए हम प्रमाण को स्वीकार करते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि यह कथन बालकोड़ा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब आपने एक-नित्य-निरंश ब्रह्म को ही स्वीकार किया है, तो लोक स्वयं अस्वीकार हो ही गया। यदि लोक को स्वीकार करे, तो लोक एवं ब्रह्म ऐसे द्वैत का प्रसंग आयेगा व द्वैत पक्ष आप के लिए अनिष्ट है।

मानों, ब्रह्मसाधक कोई प्रमाण भी है तो वह प्रत्यक्ष-अनुमान या आगम इन तीनों प्रमाणों में से कौन सा प्रमाण है? वह प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उस के द्वारा बाह्य अर्थ परस्पर एक दूसरे से घिन एवं सत्य दिखाई देते हैं, किन्तु ब्रह्मवादी उन्हें नहीं मानते।

आ विद्यानन्द लिखत है कि-

तदेतद्वैतैकान्तशासनं प्रत्यक्षं विरुद्धम्; प्रत्यक्षेण देश कालाकारभेदविशिष्टानां क्रियाकारकाणां स्थानगमनादिग्रामारामकरितुरगादिरूपाणां नानाबहिरथानां तद्विषयविचित्रप्रतिभास विशेषाणां घरमार्थीनं परस्परतो व्यावृत्तानां प्रस्फोटमध्यवसायात्। भेदावभासिना च प्रत्यक्षेणाद्वैतस्य विरुद्धत्वात्। सर्वथैकस्मिन् भेदप्रत्यक्षस्वानुपपत्तेः॥

[सत्यशासन-परीक्षा- 1/13.]

अर्थ - वह अद्वैत एकान्त शासन के प्रत्यक्ष विरुद्ध है। प्रत्यक्ष से देश-काल आकार और भेदों युक्त किया और कारकों का स्थान, गमन, ग्राम, उपवन, हाथी, शोड़ा आदि रूप जाना बाह्य अर्थों का विचित्र प्रतिभास प्रत्यक्ष के द्वारा परस्पर की भिन्नता का होता है- अध्यवसाय के कारण। भेदावभासी व प्रत्यक्ष से अद्वैत दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथा सर्वथा एक में भेद प्रत्यक्ष औं द्वारा अग्रह्य है।



46. यद्यु निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकमित्युक्तम्, तदपि न धीमद्धृतिकरम्, तस्य प्रापशयानभ्युपगमात्। सर्वस्यायि प्रमाणस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः॥

सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेन एकस्यैव विधिरूपस्य घरमब्रह्मणः स्वजेऽप्यप्रतिभासनात्।

अर्थ - और आप ने जो कहा कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष उस परम ब्रह्म का अविवेदक है। वह कथन भी धीमानों के लिए धृतिकर नहीं है, निर्विकल्प प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अस्वीकार होने से। सभी प्रमाणों का व्यवसायात्मकत्व ही अविसंवादक होने से प्रामाण्य को प्राप्त होता है।

सविकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणभूत एक ही विधि रूप परम ब्रह्म का स्वाम में भी प्रतिभास नहीं होता है।

भावार्थ - ब्रह्माद्वृत प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा आस्तु हैं। यह सब अव्य सदृश ही गयी है, तो अहेतुतारी कहते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ब्रह्म का आवेदक है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष का ही प्रापाण्य सिद्ध नहीं हो से से, उक्त कथन विद्वद्-ग्राह्य नहीं है।

प्रमाण व्यवसायात्मक ही होता है। यह पूर्व में अच्छी तरह सिद्ध किया जा सका है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक नहीं होता, क्योंकि उस में किसी प्रकार का भेदविकल्प संभव नहीं है। जहाँ स्व पर भेद न होवें, वह प्रत्यक्ष कैसा? अतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही अप्रापाणिक होने में वह ब्रह्म का आवेदक नहीं हो सकता। सविकल्प प्रत्यक्ष भी ब्रह्म का प्रतिभासक नहीं है, क्योंकि सविकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा स्वाम भी परम ब्रह्म का स्वरूप प्रतिभासित नहीं हो सकता है।



47. यदप्यभाणि आहुर्विधात् प्रत्यक्षम् इत्यादि, तदपि न स्वेष्टमज्ञानिष्ठ
शिष्टानापिति चिन्त्यताम्। प्रत्यक्षोषा ह्यनुवृत्तिः [स]
व्याकृताकारात्मकवस्तुन् एव प्रकाशनात्। न ह्यनुस्यूतमेकप्रखण्डं सत्ता
मात्रं विशेष निरधेक्षं सामान्यं प्रतिभास ते, येन यद्वैतं तत् ब्रह्मणो
रूपम् इत्याद्युक्तं शोभेत्, विशेषनिरपेक्षास्य सामान्यस्य
खरविषाणवदप्रतिभासनात्।

तदुक्तम्-

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषणवत्।

सामान्यरहितवेन विशेषास्तव्ददेव हि॥

[मीमांसा श्लोक वार्तिक आकृति, श्लोक - 10]

अर्थ - आहुर्विधात् प्रत्यक्षम् इत्यादि जो आपने कहा है, वह भी शिष्टजनों के स्वाम के उत्पान करने वाला नहीं है। ऐसा विचार करो। प्रत्यक्ष के द्वारा अनुवृत्ति [सामान्य] व्याकृताकारात्मक [विशेषात्मक] वस्तु का ही प्रकाशन होता है। अनुग्रह एक-अखण्ड सत्तामात्र विशेष से

निरपेक्ष सामान्य काव प्रतिभास नहीं होता, जिस में कि जो अद्वैत है, वह परम ब्रह्म का रूप है, यह कथन शोभा को प्राप्त हो। विशेष निरपेक्ष सामान्य का खरविषाण के समान ही प्रतिभास नहीं होता है।

विशेष रहित सामान्य खरविषाण के समान होता है। उसी प्रकार सामान्यरहित विशेष भी खरविषाण के समान होता है।

भावार्थ - अपने पश्च की सिद्धि के लिए ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि बुद्धिमान् लोग प्रत्यक्ष को विधिरूप ही कथन करते हैं, निषेध रूप नहीं। अतएव एकत्र ब्रह्माद्वैत को सिद्ध करने वाला आगम प्रत्यक्षबाधित नहीं होता है।

किन्तु उन का यह कथन शिष्ट जनों को इष्टसिद्धि कराने में समर्थ नहीं होता है। वस्तु में अनुवृत्ति और व्यावृत्ति ये दो धर्म होते हैं। अनुवृत्ति धर्म को सामान्य एवं व्यावृत्ति को विशेष कहा जाता है। इन दोनों ही धर्मों का प्रकाशन प्रत्यक्ष के द्वारा किया जाता है। निरपेक्ष सामान्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

यदि ब्रह्माद्वैतवादी के मत का [प्रत्यक्ष विधि रूप ही है] सत्य सामान्याद्यगा, तो निरपेक्ष सामान्य को प्रत्यक्ष का विषय मानना पड़ेगा, जोकि वन्यासुत, खरविषाण, गगनारविन्द आदि की तरह ही अनस्तित्ववान् है। सामान्य रहित विशेष तथा विशेष रहित सामान्य अर्थात् निरपेक्ष सामान्य एवं निरपेक्ष विशेष खरविषाण के समान है।

●

48. ततः सिद्धः सामान्यविशेषात्माऽनवद्यो विषय इति, एकस्य परमब्रह्मण एव विषयत्वासिद्धेः।

अर्थ - इस से सिद्ध होता है कि प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक है। वही विषय अनवद्य (निरोष) है। परम ब्रह्म ही एक विषय है— यह असिद्ध है।

भावार्थ - यदि वस्तु सर्वथा सामान्य रूप ही हो, तो उस के विशेष धर्म में का अभाव हो जायेगा। सर्वथा सामान्यवादी मानते हैं कि सामान्य से विशेष भिन्न नहीं है, क्योंकि विशेष को सामान्य से भिन्न मानना, मण्डुक के जटाभार का ही अनुकरण करना है। परन्तु विशेष रहित सामान्य को वे सिद्ध नहीं कर पाते।

कुछ भक्तावलम्बी द्रव्य रहित पर्याय को अर्थात् सामान्य रहित विशेष को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु वे उसे सिद्ध नहीं कर पाते, क्योंकि द्रव्य का अन्वय विना पर्याय की कहीं-किसी के द्वारा और कभी अवस्थित नहीं देखी गयी।

अतः प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक है, ऐसी मान्यता ही निर्दोष है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि प्रमाण का विषय एक परम ब्रह्म ही है-यह उचित नहीं है।



49. यज्ञ प्रमेयत्वात् उत्यनुप्रान्मुक्तम्, तदप्येतेनैव निरस्त बोधव्यम्, पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यज्ञ तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वं साधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन च प्रकृतसाध्यसाधनावालमित्यकलङ्कमकलङ्क शासनमेव।

अर्थ - आप ने जो प्रमेयत्वात् यह अनुमान कहा है, वह भी इस से ही निरस्त हो गया, ऐसा जानना चाहिये। पक्ष का प्रत्यक्षबाधित हेतु है- कालात्ययापदिष्ट होने से।

परमब्रह्म की सिद्धि में प्रतिभासमानत्व साधन बतलाया, वह भी साधनाभास होने से प्रकृत साध्य की सिद्धि में समर्थ साधन नहीं है। अकलंक का शासन ही निष्कलंक है।

भावार्थ - वेदान्तियों ने केवल परमब्रह्म को ही तत्त्व स्वीकार किया है। इस विषय का अनुमान करते हुए वे कहते हैं कि विधिरेव तत्त्वम्,

प्रमेयत्वात् अर्थात् विधि हीं सत्त्व है प्रमेय होने से। प्रमेयत्व हेतु कालात्म्यापदिष्ट नामक हेत्वाभास से युक्त है।

शंका कालात्म्यापदिष्ट हेत्वाभास किसे कहते हैं?

समाधान - जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा वाभित होता हो, उसे कालात्म्यापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं।

प्रमेयत्वात् यह हेतु आपने निरपेक्ष विधि रूप साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता क्योंकि प्रमेय निषेध रूप भी होते हैं।

इसी तरह परम ग्रन्थ की सिद्धि में प्रतिभासमानत्व को साधन कहा, वह साधन न हो कर साधनाभाव है, क्योंकि उस से साध्य की सिद्धि नहीं होती। जिस साधन से साध्य नहीं होती हो, उस साधन को साधनाभास कहते हैं।



50. प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा, न तावत्त्वतः, घटपदादिनां प्रतिभासमानत्वेनासिद्धत्वात्। परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपपद्यते, इति।

अर्थ - निखिल भावों का प्रतिभास स्वतः होता है कि अन्य के द्वारा? निखिल भावों का प्रतिभास स्वतः नहीं होता, घटपदादि का स्वतः प्रतिभासमानत्व असिद्ध होने से।

निखिल भावों का प्रतिभास यदि अन्य के द्वारा होता है, तो वह अन्य के बिना उत्सन्न नहीं हो सकता।

भावार्थ - अद्वेत की सिद्धि में प्रतिभासमानत्व साधन, साधनाभास क्यों है? क्योंकि वह निखिल भावों का प्रतिभास स्वतः नहीं होता है तथा परतः भी नहीं होता।

यदि वह प्रतिभास स्वतः होता है, तो घट पदादि अजीब गदार्थों को भी प्रतिभास होना चाहिये ऐसा नहीं हो सकता है।

यदि वह प्रतिभास अन्य के द्वारा होता है, तो अन्य की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी, ऐसा स्वीकार कर लेने पर अद्वैतत्व स्वयमेव खण्डित हो जाता है। प्रभाचन्द्राचार्य ने स्पष्ट किया है कि-

तथा उक्तः प्रतिभासस्त्वत्वं हेतुः परतः वा लक्षणवैत् असिद्धिः। परतश्चेत् विरुद्धोऽद्वैते साध्ये द्वैतप्रसाधनात्

अर्थात् - वह प्रतिभास स्वतः होता है कि परतः? स्वतः कहते हो तो असिद्ध है। परतः कहते हो तो द्वैत का प्रसंग आने से अद्वैत साध्य विशेष को प्राप्त होता है।



51. यज्ञ परब्रह्मणो विवर्तवर्तित्वमखिलभेदानाम् इत्युक्तम्, तदप्यन्वेत्रन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव।

न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात्। ततो न किञ्चिदेतत्। अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः।

अर्थ - आपने जो परब्रह्मणो विवर्तवर्तित्वमखिलभेदानाम् ऐसा कहा, वह भी अन्वेत् और अन्वीयमान इन दोनों के अविनाभाव होने से पुरुषाद्वैत का प्रतिबन्ध करता है।

घटादिकों में चैतन्यान्वय भी नहीं है, क्योंकि उन में तो मृदादि अन्वय ही देखा जाता है। अतः वहाँ चैतन्यान्वय नहीं है, इसलिए अनुमान से भी उस परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ ब्रह्माद्वैतवादियों का कथन है, कि “परम पुरुष एक ही तत्त्व है, सकल भेद उस ब्रह्म में बताने करनेवाले होते हैं”। उन का यह कथन भी मिथ्या है।

अन्वय करने वाला एवं अन्वय को प्राप्त होने वाला दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध होता है, घटादिक में मृदा का अन्वय पाया जाता है, चैतन्य का अन्वय नहीं। ब्रह्म परम नेतृत्व सम्बन्ध है, अतः जड़ के साथ उस का अन्वय-अन्वयी सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अतः अनुमान प्रमाण से भी एवं व्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

52. किं च, पक्ष-हेतु-दृष्टान्ता-अनुमानोपायभूताः परस्पर भिन्ना
अभिन्ना वा। भेदे, द्वैतसिद्धिः। अभेदे त्वेकरूपतापत्तिस्त-
त्कथमेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति। यदि च हेतुमन्तरेण्यापि साध्यसिद्धिः
स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः। तदुक्ताम्-
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्देतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥

[आप्तमीमांसा-26]

अर्थ - और क्या, पक्ष-हेतु-दृष्टान्त और अनुमान के जो उपाय हैं-वे परस्पर भिन्न हैं कि अभिन्न? यदि वे परस्पर में भिन्न हों, तो द्वैत की सिद्धि होती है। यदि वे परस्पर में अभिन्न हों, तो उन में एकरूपता की आपत्ति आती है। फिर इन अनुमानादि के द्वारा स्वरूप की सिद्धि किस प्रकार होती है? यदि हेतु के बिना भी साध्य की सिद्धि होती हो, तो वचन मात्र से ही द्वैत की भी सिद्धि क्यों नहीं होती है? कहा है कि-

हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि करने पर हेतु और साध्य के सद्भाव में द्वैतसिद्धि का प्रसंग आता है। यदि हेतु के बिना अद्वैत की सिद्धि की जाती है, तो वचन मात्र से द्वैत की सिद्धि क्यों नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

भावार्थ - जैनाचार्य ब्रह्माद्वैतवादियों से प्रश्न करते हैं कि पक्ष-हेतु-दृष्टान्त और अनुमान के जितने भी उपाय हैं, वे परस्पर भिन्न हैं कि अभिन्न हैं? वे उपाय परस्पर भिन्न नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर द्वैत पक्ष की पुष्टि होगी, यह बात अद्वैतियों का स्वेष्ट नहीं है।

उन उपायों को परस्पर अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभिन्न मानने पर सब में एक रूपता की आपत्ति आयेगी अर्थात् साध्य ही साधन

होंगा। अनुमान ही दृष्टान्त होंगा। अथवा साध्य हो अनुमान होंगा। ऐसा होने पर यह पक्ष है, यह हेतु है आदि भेद लुप्त हो जायेगे। भेदों के विलक्षण हो जाने पर लोक व्यवहार भी नष्ट हो जायेगा।

आप शीघ्रांतिकार आ. समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि— हेतु के द्वारा अद्वैत साध्य की सिद्धि करने पर हेतु और साध्य इस प्रकार द्वैत स्वतः सिद्ध हो जाता है। हेतु और साध्य में तादात्म्य है, ऐसा कथन करना भी अनुचित है, क्योंकि उन दोनों में अपेक्षिक तादात्म्य हो सकता है, परन्तु सर्वथा तादात्म्य नहीं हो सकता। अर्थात् तादात्म्य में सर्वथा एक रूपत्व नहीं होता।

आचार्य, अद्वैतवादियों का उपहास करते हुए कहते हैं, कि— यदि हेतु के विना भी अद्वैत की सिद्धि हो जाती है, तो बचन मात्र से द्वैत भी सिद्ध हो जाता है, फिर उसे स्वीकार कर्यों न किया जाय?



53. सर्वं वै खलिकर्दं ब्रह्म इत्याद्यागमादपि न तत्सिद्धिः, तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेनाद्वैतं प्रति प्रामाण्यासंभवात्। वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्य तत्रापि दर्शनात्।

तदुक्तम्—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुद्धते।

विद्याविद्याद्वयं न स्वाद् वन्ध-मोक्षद्वयं तथा॥

[आज्ञामीमांसा - 25]

ततः कथपागमादपि तत्सिद्धिस्ततो न पुरुषद्वैतमेव प्रधाणस्य विषयः।

अर्थ— सर्वं वै खलिकर्दं ब्रह्म इत्यादि आगम से भी परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती। उस का भी द्वैत का अविनाभावी होने से अद्वैत के प्रति प्रामाण्य असंभव है। वहाँ भी वाच्यवाचक भाव लक्षण वाले द्वैत का दर्शन हाता है।

कहा है कि—

अद्वैत एकान्त पक्ष में कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत नहीं होता। विद्या और अविद्या दो नहीं होती, बन्ध और मोक्ष दो नहीं होते।

फिर आगम के द्वारा उस परम ब्रह्म की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? इसलिए पुरुषाद्वैत ही प्रमाण का विषय नहीं है।

भावार्थ - जिस का कथन किया जाता है, उसे वाच्य कहते हैं। जो अभिव्यक्त करने वाला है, वह वाचक है। वाच्य-वाचक सम्बन्ध द्वैत के सद्भाव के बिना सम्भव नहीं है।

‘सर्वं वै खल्लिदं ब्रह्म [वाच्यम् सब एक ही ब्रह्म है]’ इस में सब और ब्रह्म इन में स्पष्टतया ऐद परिलक्षित होता है। सब एक ही ब्रह्म है, ऐसा कथन करते समय “सब” इस शब्द से वाच्य पदार्थ यदि ब्रह्म रूप ही हो, तो फिर सब शब्द का कथन व्यर्थ हो जायेगा और यदि ब्रह्म रूप नहीं है, तो द्वैत सिद्ध हो जायेगा। इस के अतिरिक्त जो एक रूप ही है, वह निर्वाच्य हो जाता है, फिर आगम उसका कथन कैसे पर पायेगा?

अद्वैत ब्रह्म का व्याख्यान करने वाला आगम ब्रह्म से भिन्न है कि अभिन्न? यदि भिन्न रूप स्वीकार करते हो, तो आगम और उस का वाच्य ब्रह्म इन दोनों में द्वैत का अनिष्टकारी प्रशंसन प्राप्त होगा। यदि आगम व ब्रह्म इन दोनों में अभिन्नत्व हो तो जैसे ब्रह्म प्रस्तुत प्रसंग में साध्य है, वैसे आगम भी साध्य हो जायेगा। साध्य नियमतः असिद्ध होता है। अतः आगम का असिद्धत्व हो जायेगा। जो स्वयं असिद्ध है, उस के द्वारा साध्य की सिद्धि त्रिकाल में नहीं हो सकती। फिर आगम से ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी? द्वितीय पहलू यह है कि आगम व ब्रह्म को अभिन्न मानने पर दोनों ही साध्यत्व को प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में आगम साध्य नहीं बन सकता। साध्य के बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः पुरुषाद्वैत प्रमाण का विषय नहीं है।



54. नायनेकमेव तत्त्वं प्रमाणस्य विषयः, तस्यापि परस्परनिरपेक्षतस्य केवल सामान्यस्य विशेषस्य वा, तदद्वयस्य वा प्रमाणाविषयत्वेन प्राक्

प्रस्तुतत्वात्। तनानेकमेव तत्त्वं [अथवा] परस्परसापेक्षमेकपनेकं च
[तत्] स्याद्वादिनापभीष्टमेव।

अर्थ - अनेक तत्त्व भी प्रमाण के विषय नहीं हैं। परस्पर निरपेक्ष वाचल सामान्य केवल विशेष अथवा निरपेक्ष सामान्य-विशेष प्रमाण का विषय नहीं है, पूर्व में प्रस्तुपण किया हुआ होने से।

वे अनेक ही तत्त्व हैं, यदि वे तत्त्व परस्पर सापेक्ष एकानेक हैं, तो वह स्याद्वादियों को अभीष्ट ही है।

भावार्थ - 1. सांख्य व नैयायिकों के अनुसार प्रमाण का विषय केवल सामान्य है।

2. वैशेषिकों के अनुसार प्रमाण का विषय केवल विशेष है।

3. मीमांसकों के अनुसार प्रमाण का विषय निरपेक्ष सामान्य है।

ये तीनों ही मान्यताएं विपरीत हैं, वस्तुतः सापेक्ष सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

तत्त्व एक है, अनेक हैं अथवा निरपेक्ष एकानेक हैं, ऐसी मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है।

यदि कोई ऐसा कहे कि “तत्त्व तो अनेक हैं, परन्तु वे परस्पर सापेक्ष हैं” तो जैन शासन इसे स्वीकृत करता ही है।



उत्थानिका - इत्यं नाद्वैतं नापि द्वैतं प्रमाणस्य विषय इत्यभिधाय प्रदर्श्य च परस्परसापेक्षयोरेवैकानेकयोः प्रमाणविषयत्वमिति सप्तभिन्नयेन प्रदर्शयति-

अर्थ - यहाँ प्रमाण का विषय न द्वैत है, न अद्वैत है, ऐसा प्रदर्शन कर के परस्पर सापेक्ष तथा एक अनेक ही प्रमाण के विषय हैं, ऐसा सप्तभिन्नी नाय से दिखाते हैं।

55. 1. यतः स्यादेकम्, द्रव्यापेक्षया।

2. स्यादनेकम्, पर्यायापेक्षया।
3. स्यादेकानेकम्, क्रमेणोभयापेक्षया।
4. स्यादवक्तव्यम्, युगपद् द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुभशक्यत्वात्।
5. स्यादेकावक्तव्यम्, द्रव्यपक्षत्वे सति युगपद् द्रव्यपर्यायिपेक्षया वक्तुभशक्यत्वात्।
6. स्यादनेकावक्तव्यम्, पर्यायापेक्षत्वे सति युगपद् द्रव्यपर्यायापेक्षया वक्तुभशक्यत्वात्।
7. स्यादेकानेकावक्तव्यम्, क्रमार्थित द्रव्यपर्यायापेक्षत्वे सति युगपद् द्रव्यपर्यायिपेक्षया वक्तुभशक्यत्वात्।

इति सम्पर्की प्रमाणविषयतामियर्ति।

अर्थ -

1. द्रव्य की अपेक्षा से स्यात् एक है।
2. पर्याय की अपेक्षा से स्यात् अनेक है।
3. क्रम से उभय की अपेक्षा से स्यात् एक-अनेक है।
4. युगपद् द्रव्य-पर्याय की अपेक्षा से कथन करना अशक्य होने से स्यात् अवक्तव्य है।
5. द्रव्य की अपेक्षा होने पर तथा युगपद् द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से कथन करना अशक्य होने से स्यात् एक अवक्तव्य है।
6. पर्याय की अपेक्षा होने पर तथा युगपद् द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से कथन करना अशक्य होने से स्यात् अनेक अवक्तव्य है।
7. क्रमप्राप्त द्रव्य पर्याय की अपेक्षा होने पर तथा युगपद् द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से कथन करना अशक्य होने से स्यात् एकानेक अवक्तव्य है।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रमाण विषयत्व को ग्राहण होती है।

भावार्थ - प्रमाण का विषय क्या है? इस विषय की सीमांसा करते हुए निषेधमुख से द्वैत नहीं है, अद्वैत नहीं है, ऐसा कहा गया। अब विधिमुख से कथन करते हैं। परस्पर सापेक्ष एक-अनेक ही प्रमाण के विषय हैं। इस को सप्तभगी के द्वारा स्पष्ट करते हैं।

शिका - सप्तभगी किसे कहते हैं-

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः ।

सदादिकल्पना या च सप्तभग्नीति या मता ॥

अर्थ - एक ही वस्तु में प्रमाण और नय वाक्यों से अविरोध रूप से जो सत् आदि कल्पना की जाती है, वह सप्तभगी है।

तत्त्वजिज्ञासु वस्तुतत्त्व के विषय में सात प्रकार के ही प्रश्न करता है। अतः उत्तर भी सात प्रकार से दिया जाता है। उत्तर देने की पड़ती ही सप्तभगी नाम से विश्रुत है। सात भंगों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग मूल हैं एवं शेष चार भंग संयोगी हैं।

प्रमाण का विषय एक भी है और अनेक भी। इस सापेक्षता को समझाते हुए ग्रंथकार लिखते हैं कि-

1. द्रव्य और पर्याय ये दो धर्म वस्तु में पाये जाते हैं। जब द्रव्य विवक्षित है, तब स्यात् एक है।
2. जब पर्याय की विवक्षा की जाती है, तब वह स्यात् अनेक है।
3. क्रम से द्रव्य एवं पर्याय की अपेक्षा से वह उभय अर्थात् स्यात् एक-अनेक है।
4. बाणी क्रम प्रवर्तिनी होती है, वह वस्तुतत्त्व का युगपद् कथन नहीं कर सकती। अतः जब युगपद् द्रव्य पर्याय आपेक्षिक हो, तब युगपद् कथन कर पाना अशक्य होने से स्यात् अवकलत्व है।
5. जब द्रव्य के कथन करने की इच्छा हो, तब युगपद् द्रव्य-पर्याय का कथन हो पाना असंभव है, अहीं स्यात् एक-अवकलत्व है।

6. अब पर्याय का कथन हो रहा है, तब युग्मद् द्रव्य पर्याय के विषय में कुछ कह पाना असंभव है, इसी को स्यात्-अनेक-अवक्तव्य कहते हैं।

7. क्रमप्राप्त द्रव्य पर्याय को कहने की अपेक्षा होने पर तथा उसी समय युग्मद् द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से कथन करना अशक्य होने से स्यात् एक-अनेक-अवक्तव्य नाभक भूमि निष्पत्र हो जाता है।

विषयभूत वस्तुभिन्न थर्म सात ही हैं, अतः लोक में सात प्रकार की ही जिज्ञासायें उत्पन्न होती हैं। अतः उत्तर भी उतने ही हैं।

सारांश रूप से यही कहा जा सकता है कि केवल द्वैत, केवल अद्वैत या निरपेक्ष द्वैतद्वैत प्रमाणके विषय नहीं हैं, आस्तु प्रमाण का विषय सर्वेक्ष द्वैतद्वैत है।

उत्थानिका - प्रमाणप्रमेयभेदात्मतिज्ञातं द्विविर्धतत्त्वं परीक्ष्याधुना तस्य व्यवहारवक्तव्यतां परीक्षितुमुपक्रमते। तत्र [तस्य सकलविकल्पवाग्मोच्चरातीतं [अवक्तव्यम्] केवल निर्विकल्पकप्रत्यक्षगम्यम्] इति बोद्धानां पूर्वपक्षः प्रदर्शयते-

अर्थ - प्रमाण और प्रमेय के घेद से प्रतिज्ञात दो प्रकार के तत्त्व की परीक्षा कर के अब उस की वक्तव्यता और अवक्तव्यता की परीक्षा करने का उपक्रम करते हैं।

उस में तस्य सकल विकल्प के व्यवहारगोचर हैं तथा पहले निर्विकल्प प्रत्यक्षगम्य है इस प्रकार बोद्धों के पूर्व पक्ष का प्रदर्शन करते हैं-

56. तस्य सकलविकल्पवाग्मोच्चरातीतं निर्विकल्पकुस्वानुभव-विषयस्वलक्षणस्तपं प्रमाणविषयत्वेन जागति। यतो विकल्पः सर्वेऽपि भावाभावाद्वा न वास्तवस्वलक्षणविषयास्तेषावमन्यथावृत्तिस्तप-तथावस्तुनिर्भासपानत्वात्। विकल्पो हि नामसंशयो न वस्तववलम्बनः। न हि नाम कस्यधित्पदार्थस्य धर्मस्तस्य संज्ञाप्राप्ततया संव्यवहर्त्-भिव्यवहरणात्।

अतदगुणे वस्तुनि संज्ञाकर्म नामः। इति भवद्भिरगच्छीकरणात्।

उक्तं च - अभिलापसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना।

[न्याय विनिश्चय-पृ.10]

न त्रि शब्दोऽर्थथर्मः, शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावात्।

अर्थ - बौद्धपक्ष : तत्त्व सकल विकल्पों के बचन से अगांचर हैं। वह निर्विकल्प स्वानुभव विषय स्व-लक्षण रूप प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है। जो विकल्प सम्पूर्ण भाव और अभाव का वास्तविक स्व-लक्षण विषय नहीं है, उन विकल्पों की अन्यथावृत्ति रूपता से अवस्तु का निर्भासन होता है। विकल्प, सामर्यत्व होता है, वह वस्तु का अवलोकन नहीं है। नाम किसी पदार्थ का धर्म नहीं होता, जैशा आवत्ता से लोक व्यवहार में प्रदत्ति होने के कारण।

गुणरहित वस्तु में संज्ञा कर देना, नाम कहलाता है यह आप के द्वारा स्वीकृत है। कहा भी है - शब्द के साथ सम्बन्ध को रखने वाली प्रतिति, कल्पना है।

शब्द अर्थ का धर्म नहीं है, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभाव होने से।

आवार्थ - बौद्ध दार्शनिक अपना पक्ष प्रस्तुत करता है कि - तत्त्व सकल विकल्पों के बचन से अगांचर हैं। वह निर्विकल्प स्वानुभव विषय स्व-लक्षण रूप प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है।

विकल्प केवल नामाश्रित है। नाम किसी वस्तु का धर्म नहीं होता, अतः वह किसी वस्तु का अवलोकन नहीं होता। जैन मतावलम्बी भी नाम निष्क्रेप को भावते हैं। नाम निष्क्रेप का अर्थ है, गुण रहित वस्तु में लोक व्यवहार चलाने के लिए कोई संज्ञा रखना।

शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सब बातों का अवलोकन करने पर वस्तु की (तत्त्व की) निर्विकल्पता सिद्ध होती है।

बौद्धानुयायी के पक्ष की मीमांसा आगे के प्रकरण में ग्रंथकार स्वयं करेगे।

उत्थानिका - जैना: तत्समालोचयनः प्राहुः-

अर्थ - जैन उम की समालोचना करते हुए कहते हैं।

57. तत् कल्पतमवकल्प्यते, शब्दार्थयोवच्चवाचकसम्बन्ध
सद्भावात्सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्ग्र शब्दोऽर्थे धियमाविभावयति। न
च विकल्पे नामसंश्रय एव, शब्दानुभारणे ऽपि निश्चयात्मकविज्ञानादेव
यथावस्थितार्थप्रतिपत्ति-प्रवृत्ति-प्राप्तिदर्शनात्। तत्र सकलविकल्पविकलं
तत्त्वमित्यकलङ्क शासनम्। तथा चोक्तम्-

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै,

विश्वाभिलापास्यदत्तामतीतम्।

न स्वात्मवेद्यं न च तन्निर्गद्यं,

सुषुप्तवस्थं भवदुक्तिबाह्यम्॥

[युक्त्यनुशासन - 19]

अर्थ - आपने जो कहा, वह अस्पनाशात् है ऐसा कहते हैं। शब्द और अर्थ
का वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से सहज योग्यता के संकेत के बश से शब्द
अर्थ में बुद्धि को उत्पन्न करता है। विकल्प, नामसंश्रय ही नहीं है क्योंकि
शब्दों के उच्चारण में भी निश्चयात्मक विज्ञान होने से ही यथावस्थित अर्थ
की प्रतिपत्ति-प्रवृत्ति और प्राप्ति के दर्शन होते हैं। इसलिए सकल विकल्पों
से विकल तत्त्व नहीं है, ऐसा अकलीक शासन का कथन है। कहा भी है कि
जो तत्त्व सकल विकल्पों से विशुद्ध [शून्य] है, वह स्व-संवेद्य नहीं
हो सकता। जो तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापों [कथन प्रकारों का] आस्यदता
[आश्रयता] से रहित है, अतः वह निर्गद्य [कथनीय] नहीं हो
सकता। इसलिए जो मत आप की उकित से बाह्य है, वह सुषुप्ति की
अवस्था को प्राप्त है।

भावार्थ - लौढ़ दर्शनवादी शब्द तथा अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं मानते।
उन का मत है कि शब्द विकल्प नामाश्रित है, वास्तविक नहीं, परन्तु
वस्तुतः ऐसा नहीं है। शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध हैं। जिस

के विषय में कहा जा रहा है, वह वाच्य है। कथन करने वाला वाचक कहलाता है। शब्द में यह शक्ति स्वभाव से ही है तथा स्वभाव तर्क के अगोचर होते हैं अर्थात् स्वभाव प्रश्न के विषय नहीं होते।

आ. माणिक्यनन्द जी ने लिखा है कि-

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्वि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।

[परीक्षामुख - 3/96]

अर्थात् - सहज योग्यता के होने पर संकेत वशात् शब्दादिक वस्तु के ज्ञान कराने के कारण हैं।

लोक में यह बात सुप्रसिद्ध है कि घट शब्द कहते ही श्रोता को जलधारण रूप अर्थक्रिया से युक्त घट रूप वस्तु का बोध हो जाता है अर्थात् शब्द का उद्धारण करने पर उस के द्वारा जिस का कथन किया जा रहा है, उस वस्तु की प्रतिपत्ति होती है। उस कार्य में प्रबृत्ति होती है, उसी रूप की प्राप्ति होती है।

यदि शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया यथा तो सम्पूर्ण लोक व्यवहार का ही उच्छ्लेष हो जायेगा। सत्य-असत्यदि वचन भेद समाप्त हो जायेंगे। किसी को यह कहने पर कि तुम दही खाओ, वह ऊंट की ओर उसे खाने दौड़ेगा। वचन व्यवहार का निश्चयात्मक अर्थ नहीं सकेगा। अतः शब्द और अर्थ को सम्बन्ध विरहित नहीं माना जा सकता। इसलिए सकल विकल्पों से रहित कोई भी तत्त्व नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र का इस विषयक कथन दृष्टव्य है "जो तत्त्व सम्पूर्ण विकल्पों से विरहित है, उसका सम्बेदन नहीं हो सकता। ऐसा होने पर वह प्रमेय नहीं बन सकता तथा उस का कथन करना अशक्य हो जायेगा। ऐसी स्थिति में तत्त्व जिज्ञासा व तदनुरूप उपदेश का व्यवहार नहीं बन सकता।

५८. तदेतत् किञ्चित्प्राणविषयभूतोऽर्थः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मको नित्यानित्यात्मकः। किं बहुना अधेदभेदाद्वानेकधर्मात्मकः [अपि]। प्रमेयत्वस्यान्यथानुपपत्तेः। यस्तु सामान्यविशेषाद्वानेकधर्मात्मको नास्ति स प्रेमयार्थो न भवति, यथा-खरविषाणम्। प्रमेयार्थश्चायम्। तस्यात्मायान्य-विशेषाद्वानेकधर्मात्मकः। तदुक्तम्-

अधेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं।

तव स्वतन्त्रान्यतरतत्त्व-युष्यम्॥

अवृत्तिमत्वात्समवायवृत्तेः।

संसर्गहीनेः सकलार्थ-हानिः॥

[युक्त्यनुशासन - ५]

तथा हि

भावेषु नित्येषु विकार हानि,

र्च कारक-व्यापृत कार्ययुक्तिः।

न बन्धभोगो न च तद्विमोक्षः,

समन्तदोषं प्रतमन्यदीयम्॥

[युक्त्यनुशासन - ४]

तथा च-

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि, दृष्टो भेदो विहृष्यते,

कारकाणां क्रियायाश्च, नैकं स्वस्यात्प्रजायते॥

[आत्मीयासा - २४]

उक्तं च-

दया-दय-त्याग समाधिनिष्ठं,

नय-प्रमाण-प्रकृताजसार्थम्।

अधृत्यमन्यैः सकलैः प्रवादै,

जिन त्वदीयं प्रतमद्वितीयम्॥

[युक्त्यनुशासन ६]

अर्थ - इस प्रकार किन्तु प्रमाण का विषयभूत वह अर्थ सामान्य-विशेषात्मक, भावाभावात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक है। अधिक कहने से क्या लाभ? वह अर्थ अभेद-भेदादि अनेक धर्मात्मक है। प्रमेय की अन्यथा उपर्युक्त नहीं होती, जो सामान्य-विशेषादि अनेक धर्मात्मक नहीं है, कहा है कि- हे बीर! आप का अर्थतत्त्व अभेद-भेदात्मक है। दोनों को मर्वधा निरपेक्ष स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आकाश-पुण्य के समान अवस्था उहरते हैं। विद्याद नामक उत्तरेण पूर्वे का दूसरे पदार्थों से सम्बन्ध न होने से संसर्ग की हानि होती है। संसर्ग की हानि होने पर सम्पूर्ण पदार्थों की हानि होती है। वह इस प्रकार है -

पदार्थों को नित्य मानने पर विकार की हानि होती है, विकार की हानि से कर्त्तादि कारकों का व्यापार नहीं खन सकता। कारक व्यापार के अभाव में कार्य और कार्य के अभाव में युक्ति घटित नहीं हो सकती। युक्ति के अभाव में अन्य-भोग और मोक्ष नहीं हो सकते हैं। अतः हे बीर! आप के मत से भिन्न मत सर्वतः दोषरूप है। और भी कहा है -

शृणिक एकान्त पक्ष में भी कारकों और क्रियाओं में जो प्रत्यक्ष सिद्ध भेद है, उस में विरोध आता है, क्योंकि एक वस्तु स्वर्य अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती है। कहा है कि-

हे जिन! आप का मत दया दम-त्याग और समाधि से निष्ठ है। नय और प्रमाण के द्वारा वस्तुतत्त्व को स्पष्ट करने वाला है, निखिल प्रवादों से अवाध्य है। अतः आप का मत ही अद्वितीय है।

आवार्थ - प्रमेय एक अनेकात्मक, भेद-अभेदात्मक, नित्य-अनित्यात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, भाव-अभावात्मक है। प्रमेय अनेक धर्मात्मक है, अतः प्रमाण भी अनेक धर्मात्मक ही है, क्योंकि प्रमाण प्रमेय को ही विषय करता है।

जो लोग प्रमेय को अनेक धर्मात्मक न मान कर किसी एक धर्मात्मक मानते हैं, उन के द्वारा व्यवहार का लोप हो जाता है।

जो व्योग नित्य एकान्त पक्ष के स्वीकार करते हैं, वे बन्ध और मोक्ष को मिहु नहीं कर सकते, क्योंकि नित्य में कोई क्रिया नहीं हो सकती। जब क्रिया नहीं हो सकती, तो यह क्त्वा है, यह उस का कर्म है, इत्यादि कालक व्यापार नहीं हो सकता। यदि कार्यकों का व्यापार नहीं होता, तो कार्य की मिहु नहीं होती। कायं ही नहीं होता, तो बन्ध कैसे होगा? मोक्ष कैसे हो भएगा? नित्य घटार्थ में क्रिया न होने से जो बन्ध युक्त है, वह नित्य बद्ध ही रहेगा। इस उम के लिये मोक्ष का „यज्ञ यज्ञा“, व्यर्थ ही है।

क्षणिक एकान्त पक्ष भी सदाचार है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ में भूत-भवित्व और वर्तमान काल में किसी प्रकार की कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्षणिक एकान्तवादी वस्तु को एक क्षणस्थायी मानते हैं, उन के मतानुसार कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक काल तक स्थिति को धारण नहीं करती। ऐसी वस्तु कोई क्रिया नहीं कर सकती, क्योंकि समकालवर्ती समस्त पदार्थों में पूर्वपर में कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। कारण पूर्व समयवर्ती व कार्य पर समयवर्ती होता है, क्षणजीवी वस्तु में पूर्वपर के सम्बन्ध को अवकाश कहाँ है? सम्बन्ध बिना कार्य का होना, कैसे संभव है?

आचार्य कार्तिकेय ने लिखा है कि—

पञ्जय-मित्रं तञ्च विणस्सरं खणे-खणे वि अणणण्ण।

अणण्ड-द्रव्य-विहीण्णं ण य कञ्जं किं पि साहेदि॥

[स्वामि कार्तिकेयानुष्ठान-228]

अर्थात् — क्षण-क्षण में अन्यान्य रूप धारण करने वाला, पर्यायमात्र विनश्वर तत्त्व, अन्वयी द्रव्य को बिना कुछ भी कार्य नहीं कर सकता।

एक क्षण में ही यदि द्रव्य नष्ट हो जाता है तो जीव को बन्ध नहीं सकता क्योंकि बन्धयोग्य कार्य करने वाला जीव तत्क्षण ही नष्ट हो गया, अनन्तर समयवर्ती जीव ने बन्धयोग्य कार्य तो किया ही नहीं, फिर उसे बन्ध कैसे होगा? बन्ध नहीं होता, बैसे मोक्ष भी नहीं होता। अतः उस के द्वारा तपानुष्ठान करना, व्यर्थ है।

एकान्त नित्य, एकान्त क्षणिक आदि व्यक्तों में प्रत्यक्ष दोष दिखने पर वह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु अनेकान्ताधिक ही है। एकान्त व्यक्त आकाश पृथ्वी के तुल्य अवस्था हैं। उस से वस्तु का सम्यक रूप सिद्ध नहीं होता। जिनशासन अद्वितीय है, क्योंकि—

1. जिनमत दया दम-त्वाणि और समाधि से निष्ठ है।
2. नय और प्रमाण इन दोनों के हृणि यह शासन वस्तुतत्व को स्पष्ट करता है।
3. कोई भी प्रबाद जिनशासन को वाधित नहीं कर सकता।



59. ननु यद्यैवं कथमेकाधिपत्यं न भवतीति चेत्, इत्यत्राप्युक्तं समन्तभद्राचार्येः—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा,
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी,
प्रभूत्वशक्तेरपवाद हेतुः॥

[युक्त्यनुशासन-4] इति प्रेमयतत्त्वं परीक्षा

अर्थ - यदि ऐसा है तो वह एकाधिपत्य को क्यों प्राप्त नहीं होता? ऐसा कहते हो तो उस को यहाँ समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—

कलिकाल है, कलुषित आशयवाले श्रोता हैं, प्रवक्ताओं के बचन नय निरपेक्ष हैं। हे बीर प्रभु! आप के शासन की एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी की शक्ति में थे अपबाद कारण हैं।

भावार्थ - ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आ. नरेन्द्रसेन ने प्रतिवादी के एक प्रश्न का समाधान किया है।

प्रश्न है कि स्याद्बाद जिनशासन अनेकान्त युक्त होने से निर्दोष है, फिर भी संसार में उस का एकाधिपत्य क्यों नहीं है?

उसरे देते हुए प्रधकनों में न्याय प्रभाकर आ, समन्तभद्र की कारिका उद्धृत की है। समन्तभद्र स्वामी जिनशासन के एकाधिपत्य के न होने में तीन कारण मानते हैं।

1. अलिकाल होने से लोगों की धर्मरुचि क्षीण हो चुकी है।
2. मिथ्यात्म-राग-द्वेषादि कलुष है, उस से युक्त आशय अर्थात् पक्षपात को स्वीकार करने वाले श्रोता हैं।
3. धर्म को समझाने वाले वक्ताओं को पास प्रमाण-नय-लक्षण और निश्चेप का ज्ञान नहीं होने से, इन के बच्चों में नव-सत्यक्षता नहीं है।

ये तीन कारण, जैन धर्म के एकाधिपत्य को स्थापित नहीं होने देते।

इति श्री नरेन्द्रसेन विरचिता प्रमाण-प्रमेय कलिका समाप्ता।

इस प्रकार श्री नरेन्द्रसेन विरचित प्रमाण-प्रमेय कलिका पूर्ण हुई।